

## डॉ० भीमराव अम्बेडकर

प्रतिभा के धनी, विद्या में आगर, इतिहास-विधि-अर्थ-समाज-शास्त्र में निष्णात, स्वतन्त्र भारत के संविधान के निर्माता, बीसवीं सदी के मनु, जीवन भर दलित समाज के कल्याण के लिए जूझने वाले, प्यार और श्रद्धा से बाबा साहेब के नाम से याद किये जाने वाले भारतरत्न डॉ० भीमराव अम्बेडकर भारत के सपूतों में से एक हैं।

### 1. जन्म और बाल्य काल

महाराष्ट्र में एक क्षेत्र का नाम है 'कोकण'। इसमें एक गांव है 'अंबावड़े'। इसी में "मालोजी सकपाल" रहते थे जो 'महार' जाति के थे। यहां के महार लोग प्रायः बलिष्ठ, मेधावी और वीर होते थे। मालोजी सकपाल सेना की सेवा से निवृत्त होने के बाद विरक्त होकर साधु हो गये। मालोजी के 'रामजी सकपाल' नाम का एक पुत्र था। रामजी सेना के स्कूल में चौदह वर्षों तक प्रधान अध्यापक थे। इसके बाद ये सूबेदार मेजर हुए। रामजी सकपाल को चौदह संतानें हुईं जिनमें अंतिम थे 'भीमराव' जिन्हें हम डॉ० अम्बेडकर नाम से जानते हैं।

डॉ० अम्बेडकर की परिवार-परम्परा कबीरपन्थी थी और उनका ननिहाल भी कबीरपन्थी था, जहां से उनकी माता 'भीमाबाई' आई थीं। इस प्रकार डॉ० अम्बेडकर का पितृपक्ष और मातृपक्ष—दोनों कबीरपन्थी होने से उन्हें धार्मिक संस्कार मिले थे। इसका प्रभाव डॉ० अम्बेडकर के पूरे जीवन पर रहा।

भीमराव का जन्म मध्यप्रदेश के 'महू' नाम के स्थान पर 14 अप्रैल 1891 ई० में हुआ था। भीमराव की छह वर्ष की उम्र में उनकी माता भीमा देवी का देहांत हो गया। किन्तु भीमराव की बुआ 'मीरादेवी' ने उनको मातृस्नेह देकर पाला।

भीमराव के माता-पिता कबीरपन्थी होने से वे पक्के शाकाहारी थे। उनके घर में मांस, मछली, अण्डे, शराब इत्यादि के आने की संभावना ही नहीं थी। इसका प्रभाव भीमराव पर प्रायः जीवनभर रहा।

### 2. शिक्षा

भीमराव जी ने प्राथमिक शिक्षा से चलकर सत्रह वर्ष की उम्र में मेट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण की, और उसके बाद ही उनका विवाह 'रमाबाई' नाम की नौ वर्ष

की लड़की से हो गया। आगे चलकर रमाबाई ने भीमराव की उन्नति में हर प्रकार से सहयोग किया।

पिता जी की महत्त्वाकांक्षा एवं सहयोगियों के प्रोत्साहन से भीमराव ने बम्बई के एक कालेज में प्रवेश लिया। कालेज की पढ़ाई में भीमराव को आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इस क्रम में एक सज्जन ने भीमराव की भेंट बड़ौदा के महाराजा सयाजीराव गायकवाड़ से करायी। महाराज ने पहले से ही यह घोषणा की थी कि किसी योग्य दलित छात्र को हम आर्थिक सहायता करेंगे। अतएव भीमराव के मिलने पर महाराज ने उन्हें पचीस रुपये प्रतिमाह छात्रवृत्ति देने का निर्णय दे दिया।

भीमराव ने 1912 ई० में बी० ए० की परीक्षा पास की और इसके कुछ महीने बाद उनके पिता रामजी सकपाल का देहावसान हो गया। इस दुखद घटना में बाइस वर्ष का युवक भीमराव फूट-फूट कर रो पड़ा।

हर्ष और शोक के दिन स्थिर नहीं रहते। युवक भीमराव ने पुनः साहसकर तथा बड़ौदा महाराज गायकवाड़ से मिलकर अपनी विद्या-पिपासा बतायी। महाराज अपने खर्च पर कुछ तेज विद्यार्थियों को शिक्षा प्राप्त करने के लिए अमेरिका भेजने वाले थे। इसमें शर्त यह थी कि जब विद्यार्थी लौटकर भारत आयें तब अपने दस वर्ष बड़ौदा-रियासत की सेवा करें। सेवा में वेतन तो मिलना ही था। भीमराव का भी महाराज ने चुनाव कर लिया और उन्हें अपने खर्च से अमेरिका भेज दिया।

1913 ई० की जुलाई में भीमराव न्यूयॉर्क पहुंचे। उन्होंने “कोलंबिया विश्वविद्यालय” में शिक्षा ग्रहण करना शुरू किया। उन्होंने दो वर्षों के कठोर परिश्रम से “एनशियंट इंडियन कॉमर्स” नाम के शोध-प्रबन्ध के आधार पर एम०ए० की डिग्री प्राप्त की।

भीमराव का दूसरा शोध-प्रबन्ध था “नेशनल डिविडेड इन इन्डिया ए हिस्टोरिक एण्ड ऐनेलेटिक स्टडी”। इसी शोध-प्रबन्ध के आधार पर भीमराव ने “डॉक्टर ऑफ फिलासफी” की डिग्री प्राप्त की। इस प्रकार युवक भीमराव डॉ० अम्बेडकर हो गये। यह 1916 ई० का समय है।

डॉ० अम्बेडकर अमेरिका से लन्दन गये। वे वहां रहकर और पढ़ना चाहते थे, परन्तु बड़ौदा रियासत के दीवान ने डॉ० अम्बेडकर को भारत बुला लिया।

डॉ० अम्बेडकर ने अमेरिका-प्रवास में करीब दो हजार पुरानी पुस्तकें खरीदी थी। उन्हें छह बड़े-बड़े बाक्सों में भरकर भारत भेजा, परन्तु जहाज दुर्घटना में वे समुद्र के पानी को भेंट हो गयीं। उसके बदले में जहाज-कम्पनी से उनको पैसे मिले। डॉ० अम्बेडकर 1917 ई० में भारत लौट आये।

उनके मन में ज्ञान की तीव्र इच्छा थी, अतः वे अवसर पाते ही 1920 की जुलाई में लन्दन पहुंचे। वहां उन्होंने ब्रिटिश म्यूजियम, इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी, लन्दन यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी, सिटी लाइब्रेरी आदि में गहन अध्ययन किया। उन्होंने “प्राविन्शियल डिसेंट्रलाइजेशन ऑफ इम्पीरियल फाइनेन्स इन ब्रिटिश इण्डिया” शीर्षक नाम के अपने शोध-प्रबन्ध के फलस्वरूप एम० ए० सी० की उपाधि प्राप्त की; और “द प्रॉब्लम आफ रूपी” नामक शोध-प्रबन्ध भी लन्दन विश्वविद्यालय को प्रस्तुत किया। उन्होंने इसी क्रम में बैरिस्ट्री भी पास की।

### 3. मानवता की विडम्बना

यह सच है कि पूरे विश्व में उच्च-से-उच्च कहे जाने वाले गोत्र में पैदा हुए ऐसे लोग सब समय हुए हैं जिन्होंने जन्म और जातिगत ऊंच-नीच तथा छुआछूत को नहीं माना है और पूरे मानव-समाज को एक दृष्टि से देखा है और उनका व्यवहार भी समतामूलक रहा है।

दूसरी तरफ यह भी सच है कि पूरे संसार के प्रायः सभी तथाकथित जातियों में दूसरों को हेय, तुच्छ एवं अछूत की दृष्टि से देखने का अभिशाप रहा है। गोरे लोग काले रंग के मनुष्यों को सदैव से अछूत समझते आये हैं। अरब के मुसलमान दूसरे मुसलमानों को तुच्छ समझते हैं। विजयी तुर्क लोग मूल भारतीय मुसलमानों को नीच समझते थे। आज भी शेख-सैयद कहलाने वाले जोलहा, धुनिया, गद्दी आदि मुसलमानों को तुच्छ समझते हैं। उन्हें वे खान-पान और उपासना में साथ ले लेते हैं, परन्तु विवाह-सम्बन्ध कभी नहीं कर सकते।

यह परम सत्य है कि हिन्दू समाज जन्म और जाति के आधार पर जितना ऊंच-नीच तथा छुआछूत की भावना से प्रदूषित है, वह अनुपम है। तथाकथित ब्राह्मण अ-ब्राह्मण कहे जाने वाले को नीच मानता है। इतना ही नहीं, एक गोत्र का ब्राह्मण दूसरे गोत्र के ब्राह्मण को नीच मानता है। एक गोत्र का क्षत्रिय दूसरे गोत्र के क्षत्रिय को तुच्छ समझता है। यही बात कुर्मी, यादव, साहू, धोबी, चमार आदि सब में है। उनकी एक-एक जाति के भीतर गोत्र को लेकर ऊंच-नीच की भावना बनी है।

इस बीसवीं सदी के अन्त में काफी समता का भाव आया है, फिर भी भीतर-भीतर अभी विषमताजनित सड़न बनी है। आज से साठ-सत्तर या असी वर्ष पूर्व तो इस दिशा में काफी दुर्गन्धी थी।

बालक भीमराव अपने बड़े भाई के साथ प्राथमिक पाठशाला में जब पढ़ने जाता था, तब उसे पानी पीने की समस्या होती थी। वह सार्वजनिक नल को छू नहीं सकता था। सभी बच्चों के साथ स्कूल के टाट पर बैठ नहीं सकता था।

अतएव उसे अपने बैठने के लिए घर से बोरा ले जाना पड़ता था और सब बच्चों से अलग बैठना पड़ता था।

एक बार बालक भीमराव अपने भाई तथा भतीजे के साथ गोरेगांव जा रहे थे। वे मसूर रेलवे स्टेशन पर उतरे। उन्होंने एक बैलगाड़ी किराये पर की। रास्ते में गाड़ी वाले ने जब यह जाना कि ये बच्चे महार जाति के हैं, तो वह बहुत बिगड़ा। उसने इन बच्चों के उज्ज्वल कपड़े तथा गोरे रंग देखकर समझा था कि ये उच्चवर्ण के हैं। जब भीमराव ने दूना किराया देने की बात कही, तब उसने मान लिया, परन्तु वह स्वयं गाड़ी से उतरकर पैदल चलता रहा और गाड़ी इन बच्चों ने स्वयं हांकी। गाड़ीवान ने महार जाति के बच्चों को बैठाकर स्वयं गाड़ी हांकने में अपनी तौहीन समझी।

एक बार बालक भीमराव ने चुपके से प्याऊ से पानी पी लिया था। लोगों ने जब यह जाना तो भीमराव उनके द्वारा पीटे गये। नाई भीमराव के बाल नहीं काटता था। इसलिए उनकी बहिन उनके बाल काटती। कई बार स्वाभिमान में टेस लगने के भय से भीमराव प्यासे ही बहुत समय तक रह जाते थे।

एक बार अध्यापक ने भीमराव से श्याम-पट पर एक सवाल हल करने को कहा। श्याम-पट के पास लड़कों के खाने के डिब्बे रखे हुए थे, सभी बच्चे दौड़कर अपने-अपने डिब्बे वहां से इस डर से उठा लिये कि भीमराव से हमारे भोजन न छू जायं।

भीमराव तथा उनके बड़े भाई बलराम जब हाईस्कूल में पढ़ रहे थे तब वे दूसरी भाषा के रूप में संस्कृत पढ़ना चाहते थे, परन्तु उन्हें नहीं पढ़ने दिया गया। न पढ़ने देने में यह बेतुकी बात थी कि शूद्रों को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है। इसी प्रकार संस्कृत देवभाषा होने से शूद्र उसके पढ़ने के अधिकारी नहीं हैं। वैसे जड़-शास्त्रों के अनुसार शूद्र को कुछ भी पढ़ने का अधिकार नहीं है। अन्ततः विवश होकर भीमराव दोनों भाइयों को संस्कृत छोड़कर फारसी भाषा लेना पड़ा।

जब भीमराव कालेज में पढ़ रहे थे तब होटल वाला उन्हें न चाय पिलाता था न पानी। एक अध्यापक प्रो० मूले उन्हें पुस्तकों और कपड़े तक का सहयोग करते थे, परन्तु अन्य अध्यापक उन्हें अछूत ही समझते थे।

पहली बार अमेरिका से पढ़कर लौटने पर शर्त के अनुसार बड़ौदा-रियासत में डॉ० अम्बेडकर को दस वर्ष सेवा में रहना था। जब वे बड़ौदा पहुंचे तब उन्हें कोई अपने होटल या हॉस्टल में रखने के लिए तैयार नहीं था। दफ्तर में उन्हें कोई पानी पिलाने के लिए तैयार नहीं था। चपरासी भी उनकी मेज पर दूर से फाइल फेंक देता था जिससे वह स्वयं एक अछूत से छू न जाय। डॉ० अम्बेडकर छद्म रूप में एक पारसी के होटल में ठहर गये थे; परन्तु जब उसे

पता चला कि अम्बेडकर अछूत हैं तब उसने उन्हें धक्के देकर होटल से निकाल दिया और उनका सारा सामान बाहर फेंक दिया। बड़ौदा जैसे बड़े शहर में डॉ० अम्बेडकर को रहने की जगह नहीं मिली। उन्होंने बड़ौदा में अपने रहने की समस्या के निदान के लिए एक प्रार्थना-पत्र महाराज के पास भेजा। महाराज ने उसे दीवान के पास भेजा, परन्तु दीवान ने उनको निवास देने में अपनी असमर्थता जतायी; क्योंकि वहां की पूरी मशीनरी ही छुआछूत की दुर्गंध से भरी थी। महाराज डॉ० अम्बेडकर को चाहते हुए भी विवश हो गये। जिस दिन होटल वाले ने उन्हें निकाला था, वे उस रात को खुले आकाश में पेड़ के नीचे भूखे-प्यासे, दिल में पीड़ा तथा आंखों में आंसू लिये बैठे रह गये। दूसरे दिन विवश होकर उन्हें अपना सामान लेकर बम्बई लौट जाना पड़ा।

जब वे बम्बई लौटे तो आजीविका का प्रश्न आया। एक सज्जन के सहारे उन्हें दो पारसी के बच्चों को पढ़ाने के लिए ट्यूशन मिल गया। साथ-साथ उन्होंने स्टॉक और शेयरों के विषय में राय देने के लिए व्यावसायिक फर्म की स्थापना की। पहले यह धन्धा अच्छा चला; परन्तु जब लोगों को यह पता चला कि राय देने वाला अछूत है तब धीरे-धीरे ग्राहक आना बन्द कर दिये और उन्हें फर्म बन्द कर देना पड़ा।

एक बार डॉ० अम्बेडकर एक सभा में जा रहे थे। कोई तांगा वाला उन्हें ले जाने के लिए तैयार नहीं था। एक तांगा वाला इस शर्त पर तैयार हुआ कि वह स्वयं तांगा नहीं चलायेगा। एक उत्साही युवक तांगा हांकने लगा। उसका इस विषय में अभ्यास न होने से वह घोड़े की रास सम्भाल नहीं सका और घोड़ा तांगे को एक गड्ढे में गिरा दिया। डॉ० अम्बेडकर को काफी चोट आयी और दाहिनी जांघ की हड्डी टूट गयी। उनको दो महीने बिस्तर पर पड़ा रहना पड़ा।

यह उस समय के हिन्दू-समाज की कलुषित छुआछूत का नमूना है। पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि यह सब जिस योग्य विद्वान पर बीता हो उसके दिल में कैसी प्रतिक्रिया हो सकती है!

उपर्युक्त विषय का दूसरा पक्ष भी है कि बड़ौदा के महाराज ने डॉ० अम्बेडकर को ऊपर उठाने के लिए बहुत सहयोग दिया। जब भीमराव हाईस्कूल में पढ़ते थे, तब उन्हें एक ऐसे अध्यापक भी मिले थे कि वे अपने भोजन में से भीमराव को दोपहर की छुट्टी के समय भोजन देते थे, उनसे प्यार का व्यवहार करते थे। उनके नाम में 'अम्बेडकर' उपाधि लगी थी। भीमराव अपने नाम में अपने पैतृक निवास अम्बावडे के आधार पर अम्बावडेकर उपाधि रखते थे, परन्तु इस दयालु एवं समतावादी अध्यापक से प्रभावित होकर उसकी उपाधि को अपने नाम के साथ जोड़ लिया—अम्बेडकर।

प्रसिद्ध स्वतन्त्रता सेनानी एवं कांग्रेस के महान नेता तथा वेदज्ञ ब्राह्मण पण्डित लोकमान्य तिलक के सुपुत्र 'श्रीधर पंत' को जब डॉ० अम्बेडकर का सम्पर्क मिला और उन्होंने उनका पूरा विचार जाना तो वे सदा के लिए डॉ० अम्बेडकर के प्रशंसक हो गये। पण्डित श्रीधर पंत ने समाज सुधार का बड़ा काम किया। वे अछूत कहे जाने वाले युवकों को अनेक सहयोग देने लगे। उन्होंने डॉ० अम्बेडकर को चायपार्टी पर आमन्त्रित किया।

कोल्हापुर के नरेश 'शाहू छत्रपति महाराज' ने डॉ० अम्बेडकर की दिल से प्रशंसा की और उदार होकर उनका सहयोग किया।

#### 4. डॉ० अम्बेडकर की योग्यता

डॉ० अम्बेडकर इंगलिश भाषा के पण्डित तो थे ही, अन्य भाषाएं भी जानते थे। वे समाजशास्त्र, मानवशास्त्र, विधिशास्त्र, अर्थशास्त्र, इतिहास आदि में प्रकांड पण्डित थे। जब वे बम्बई के "सिडेन्हम" कालेज में प्रोफेसर पद पर रहकर पढ़ते थे तब उनके लेक्चर से प्रभावित होकर दूसरे कालेज के छात्र भी सुनने आ जाते थे।

भाषा पर उनका जबर्दस्त अधिकार था। उनका भाषण ओजस्वी होता था। उन्होंने लंदन के प्रथम गोलमेज में जो भाषण दिया था, उसे सुनकर इंग्लैंड और भारत के उपस्थित विद्वान तथा नेता चकित रह गये थे। उस समय वहां उपस्थित बड़ौदा-नरेश ने तो गद्गद होकर कहा था कि भीमराव को दिया हुआ मेरा सहयोग सफल हो गया। डॉ० अम्बेडकर कुशल बैरिस्टर भी थे।

#### 5. डॉ० अम्बेडकर की क्रांति

डॉ० अम्बेडकर ने 13 जनवरी 1920 ई० से 'मूक नायक' नाम का समाचार पत्र निकालना आरम्भ किया। यद्यपि वे उसके सम्पादक नहीं थे, तथापि वे ही इस पत्र के सर्वस्व थे। इस समाचार पत्र का मुख्य उद्देश्य था कि ज्ञान तथा अधिकार समाज के एक ही वर्ग के पास सिमितकर न रहें, अपितु ये सर्वजनीन हों। धरती पर जन्में सभी मानव का सभी दिशाओं में बढ़ने तथा फूलने-फलने का अवकाश हो। कोई जन्म एवं जाति के कारण उपेक्षित न रह जाय और कोई अनुचित लाभ न ले।

डॉ० अम्बेडकर को दो महान समाज-सुधारकों से बड़ा बल मिला था। वे थे 'ज्योतिराव गोविंदराव फुले' तथा कोल्हापुर के नरेश 'छत्रपति शाहू महाराज'। ज्योतिराव गोविंदराव फुले ने 1837 ई० में 'सत्यशोधक समाज' नाम की संस्था भी स्थापित की थी। छत्रपति शाहू महाराज तो डॉ० अम्बेडकर के समय में सक्रिय और उनके पक्षधर थे। मातृ-वंश एवं पितृ-वंश से सन्त कबीर साहेब के मानवतावादी विचार डॉ० अम्बेडकर को मिले ही थे। स्वयं के

भुक्तभोगी जीवन ने उन्हें मथकर रख दिया था।<sup>1</sup>

डॉ० अम्बेडकर ने मार्च 1924 ई० में 'बहिष्कृत हितकारिणी सभा' की स्थापना की। इसका उद्देश्य था अछूत कहे जाने वाले दलितवर्ग का सर्वतोमुखी विकास करना। इसमें यह भी निर्णय लिया गया था कि इस कार्य में उच्चवर्ग की भी सहानुभूति एवं सहयोग प्राप्त करने का प्रयास किया जाय।

डॉ० अम्बेडकर कहते थे 'सेल्फ हेल्प इज़ बेस्ट हेल्प' अर्थात् अपनी सहायता श्रेष्ठ सहायता है। जब तक हम स्वयं अपने पैरों पर खड़े नहीं होते, तब तक दूसरे की सहायता अधिक लाभप्रद नहीं हो सकती। अच्छी शिक्षा, अच्छे संस्कार, सद्गुण तथा आर्थिक सुधार से ही कोई समाज आगे बढ़ सकता है। शिक्षा और अच्छे संस्कार ग्रहण करने से आर्थिक सुधार अपने आप होगा।

कुछ ऐसे सुधारक होते हैं जो मानवमात्र को मूलतः समान मानकर उन्हें समता से रहने के उपदेश देते हैं और कुछ ऐसे सुधारक होते हैं जो बड़े कहलाने वालों को फटकारते भी हैं और छोटे कहलाने वालों को ललकार कर उन्हें अपना कर्तव्य-बोध एवं अधिकार-बोध कराते हैं। डॉ० अम्बेडकर ने दलितों को अपना कर्तव्य-बोध तथा अधिकार-बोध कराया। उन्होंने अपना हक मांगा और इसके लिए प्राणपण से सत्याग्रह किया।

महाराष्ट्र के एक महाड़ नामक जगह में एक तालाब से एक वर्ग को पीने के लिए पानी नहीं लेने दिया जाता था। इस वर्ग को अन्य लोग अछूत कहते थे। कैसा अद्भुत धर्म था! उसमें मुसलमान तथा इसाई पानी पी सकते थे, परन्तु हिन्दू का एक वर्ग जिसे अछूत नाम दिया गया, पानी नहीं पी सकता था। यहां तक कि कुत्ते-बिल्ली जब उसका पानी पीते थे तब तालाब अशुद्ध नहीं होता था, किन्तु अमुक वर्ग के मानव के पीने से वह अशुद्ध हो जाता था।

डॉ० अम्बेडकर ने इसका कड़ा विरोध किया। हजारों को लेकर जुलूस निकाला, सभाएं कीं। उन्होंने न्यायपालिका और समाज—दोनों को प्रभावित किया।

डॉ० अम्बेडकर ने 1927 ई० में 'बहिष्कृत भारत' नाम का एक पाक्षिक पत्र निकाला, जिसमें दलित समुदाय को जगाने की चेष्टा की। अपने इस

1. महाराष्ट्र में डॉ० अम्बेडकर के काल में जिस प्रकार छुआछूत की गंदगी का पता चलता है वैसा तो ब्राह्मणों का गढ़ कहलाने वाले अवध क्षेत्र में भी नहीं था। डॉ० अम्बेडकर के ही समय की बात है। अवधक्षेत्र में सर्वोच्च कहे जाने वाले ब्राह्मणों के घर के भीतर के कुएं से चमार कहे जाने वाले लोग बराबर पानी भरते और पीते थे। और वे वह चमार थे जो सुअर पालते तथा मुरदा मांस भी खाते थे। अवध-क्षेत्र में डॉ० अम्बेडकर के जमाने में नाई भंगी एवं चमार कहे जाने वाले लोगों के बाल बनाकर उसी उस्तरे से वहीं ब्राह्मणादि सर्वर्ण कहे जाने वाले लोगों के भी बाल बनाते थे, आज तो बनाते ही हैं।

अभियान में उन्होंने बाल गंगाधर तिलक जैसे नेता को भी नहीं बख्शा। उन्होंने लिखा “यदि तिलक किसी अछूत के घर पैदा हुए होते तो ‘स्वराज मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है’ का नारा देने के बजाय यह नारा देते छुआछूत मिटाना मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है।”<sup>1</sup>

#### 6. केवल दलित वर्ग को उठाने की चेष्टा, फिर राष्ट्रवादी विचार

डॉ० अम्बेडकर भारत की स्वतंत्रता के लिए लड़ाई न लड़कर केवल दलितों को उठाने के लिए लड़ते थे। यह अपने आप में बहुत बड़ा काम था। “वे सत्ता-परिवर्तन में अधिक विश्वास न करके आम आदमी, गरीब आदमी और पिछड़े आदमी के विकास और उसकी सत्ता के विकास में अधिक विश्वास करते थे। यही कारण है कि विचारों और लेखन में प्रखर राष्ट्रवादी होते हुए भी उन्होंने देश की राजनैतिक स्वतंत्रता के आंदोलन में भाग नहीं लिया।”<sup>2</sup>

ब्रिटिश-सरकार ने एक आयोग का गठन कर भारत भेजा था कि वह देश भर में घूमकर उसका अध्ययन करे और बाद में अपनी रिपोर्ट दे जिससे भारत के हित में उसके अधिनियम में संशोधन किया जा सके। इस आयोग के अध्यक्ष थे ‘सर जॉन साइमन’। इसलिए इस आयोग का नाम था ‘साइमन कमीशन’। राष्ट्रवादी भारतीय कांग्रेस पार्टी ने ‘साइमन कमीशन’ का विरोध किया। राष्ट्रवादी नेता समझते थे कि यह कमीशन भारतीयों को भुलावे में रखने का एक गोरखधन्धा है जिससे उनका मन स्वतंत्रता के संघर्ष से हटा रहे। इसलिए कांग्रेस ने इसका विरोध किया।

अंग्रेज सरकार ने बम्बई प्रांत में ‘साइमन कमीशन’ का सहयोग करने के लिए समिति बनायी। उसमें डॉ० अम्बेडकर सदस्य बने। डॉ० अम्बेडकर का यह व्यवहार राष्ट्रवादी नेताओं को बुरा लगा। वैसे डॉ० अम्बेडकर देश के लिए कोई अ-भक्ति का काम नहीं कर रहे थे। वे समझते थे कि यदि हम ब्रिटिश सरकार का सहयोग करेंगे, तो वह भारत के दलितों के उत्थान में सहयोग देगी। उन्होंने अपनी रिपोर्ट में यह लिखा था कि भाषा के आधार पर प्रांत तथा समुदाय के आधार पर पृथक मताधिकार की मांग करना अनुचित है।<sup>3</sup>

डॉ० अम्बेडकर ने धीरे-धीरे समझा कि दलित वर्ग का उत्थान ब्रिटिश-शासन से नहीं हो सकता। अतएव हमें राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का पक्षधर होना चाहिए। “डॉ० अम्बेडकर द्वारा भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता का समर्थन

1. बी० एल० मेघवालकृत-भारतरत्न डॉ० बी० आर० अम्बेडकर, पृष्ठ 45 ।

2. वही, पृष्ठ 40 ।

3. वही, पृष्ठ 55 ।



करने से दलित वर्ग को एक नई दिशा मिली। अब तक के दलित वर्ग के आंदोलन में यह विशेषता नहीं थी कि दलितवर्ग अपने मानवीय एवं सामाजिक अधिकारों के लिए संघर्ष करने के साथ-साथ देश की आजादी के आंदोलन का भी व्यापक समर्थन करता रहा हो। अब तक दलितवर्ग ब्रिटिश-शासन को अपने हित में मानता आ रहा था।”<sup>1</sup>

### 7. गोलमेज-सम्मेलन

महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने भारत की जनता को स्वतन्त्रता के लिए जगा दिया था। भारत में ब्रिटिश-सरकार के लिए सर्वत्र असंतोष फैल गया था। ब्रिटिश-सरकार भारत को निरंतर चूस रही थी। यहां तक कि जब अवर्षण से अकाल पड़ता था, तब अन्न के बिना हजारों तथा लाखों भारतीय तड़प-तड़प कर मर जाते थे, और ब्रिटिश-सरकार मूक-दर्शक बनकर बैठी रहती थी। भारत से कपास सस्ते दाम पर इंग्लैण्ड जाता था और इंग्लैण्ड से कपड़ा बनकर भारत में आता था जो अपेक्षया बहुत महंगे दाम में बिकता था। ब्रिटिश-सरकार हर प्रकार भारत का खून चूसती थी। राष्ट्रवादी नेताओं ने यह सब जनता को अच्छी तरह बता दिया था।

भारत के असंतोष को दूर करने के लिए ब्रिटिश-सरकार ने ‘गोलमेज-सम्मेलन’ नाम पर एक आयोजन किया, जिसमें ब्रिटेन के तीन राजनीतिक दलों के प्रतिनिधि सोलह सदस्य थे। तिरपन भारतीय सदस्य थे, जिसमें बीस देशी रियासतों के और तैंतीस राजनीतिक दलों तथा विभिन्न सम्प्रदायों के प्रतिनिधि थे। इसमें ब्रिटिश-सरकार की यह मनसा थी कि आपस में मिल-बैठकर कुछ ऐसा संविधान बनाया जाय कि भारत के लोगों का असन्तोष दूर हो जाय।

कांग्रेस के नेता समझते थे कि यह ब्रिटिश-सरकार की चाल है। वह किसी प्रकार भारत को भुलावे में रखना चाहती है। अतएव कांग्रेस ने इस सम्मेलन का बहिष्कार किया। परन्तु कुछ राजे-महाराजे, हिन्दू नेता तथा मुस्लिम नेता जिन्ना और डॉ० अम्बेडकर इस गोलमेज सम्मेलन में लन्दन गये।

डॉ० अम्बेडकर ने इस सम्मेलन में बड़ा प्रभावशाली भाषण दिया था। बड़ौदा-नरेश महाराज गायकवाड़ उस सभा में उपस्थित थे। वे बहुत प्रभावित हुए। वे जब अपने डेरे पर आये तो महारानी से गद्गद होकर उन्होंने कहा कि डॉ० अम्बेडकर को आर्थिक सहयोग देकर जो मैंने उन्हें पढ़ाया था वह आज वसूल हो गया। ऐसा कहते-कहते नरेश की आंखों से आंसू छलक आये। महाराजा ने डॉ० अम्बेडकर को एक शानदार भोज भी दिया।

1. वही, पृष्ठ 61 ।

इस सम्मेलन में डॉ० अम्बेडकर लंदन तथा बाहरी संसार को यह अच्छी तरह बता सके थे कि भारत में अछूत कहे जाने वाले तथा दलित वर्ग की क्या स्थिति है। इस प्रथम गोलमेज-सम्मेलन में डॉ० अम्बेडकर के भाषण से भारतीय कांग्रेस कमेटी के राष्ट्रीय नेताओं को भी उनके तथा उनके उद्देश्य को समझने में सरलता हुई। यह प्रथम गोलमेज-सम्मेलन 1930 ई० के नवंबर में लंदन में हुआ था।

### 8. अम्बेडकर तथा गांधी मिलन

6 अगस्त 1931 ई० को महात्मा गांधी ने डॉ० अम्बेडकर को पत्र लिखकर मिलने के बुलाया, और लिखा कि यदि आप किसी कारणवश न मिल सकें तो मुझे आपके पास आकर मिलने में प्रसन्नता होगी।

डॉ० अम्बेडकर महात्मा गांधी से मिले। यही प्रथम मिलन था। कहा जाता है कि अभी तक महात्मा गांधी डॉ० अम्बेडकर को कोई सवर्ण समझते थे और मानते थे कि वे अपनी उदारनीतियों के कारण दलितों के उत्थान में लगे हैं। परन्तु इस मिलन में उन्होंने डॉ० अम्बेडकर की वास्तविकता समझी तथा उनकी अपने पक्ष में दृढ़ता।

महात्मा गांधी छुआछूत तथा ऊंच-नीच शुरू से ही नहीं मानते थे। उनके आश्रम में चाहे दक्षिणी अफ्रीका हो या भारत, सभी जाति, वर्ण, वर्ग तथा अनेक देश के लोग एक साथ समभाव से रहते थे।

डॉ० अम्बेडकर तथा महात्मा गांधी में खास अन्तर था कि महात्मा जी हिन्दू-समाज से कोई जातिगत भावना से तिरस्कार या उपेक्षा नहीं पाये थे। अतः उनका दलित-उद्धार ठण्डे दिल से था। साथ-साथ वे भारत को आजाद कराने के अभियान में मुख्य रूप में लगे थे, इसलिए अछूतोद्धार उसमें एक अंग मात्र था।

दूसरी तरफ डॉ० अम्बेडकर शुरू से सवर्ण हिन्दू-समाज से अपने लिए छुआछूत का व्यवहार पाये थे, इसलिए वे भुक्तभोगी थे। साथ-साथ वे दलित वर्ग से सीधे जुड़े थे, और उनका मात्र एक अभियान था दलित-उद्धार। भारत की स्वतंत्रता पर भी पहले उनकी दृष्टि नहीं थी। अतएव दोनों के दृष्टिकोणों में अन्तर तो था ही।

डॉ० अम्बेडकर चाहते थे कि अछूत कहे जाने वाले वर्ग को अपना पृथक निर्वाचन का अधिकार मिले। महात्मा गांधी इसके विरुद्ध थे। वे कहते थे कि ऐसा कर देने से अछूतों का अछूतपन स्थायी कर देना है। ऐसा करना हिन्दू-समाज की आत्महत्या है। इससे हिन्दू-समाज टूटेगा। डॉ० अम्बेडकर तथा महात्मा गांधी दोनों आपसी बातचात से सन्तुष्ट नहीं थे।

सन् 1931 ई० में लन्दन में दूसरा गोलमेज सम्मेलन हुआ। इसमें महात्मा गांधी भी गये थे और डॉ० अम्बेडकर भी। इसमें अन्य बातों के साथ दोनों नेताओं ने अपनी-अपनी बातें रखी थीं।

संप्रदायों के पृथक निर्वाचन अधिकार को डॉ० अम्बेडकर स्वयं राष्ट्रविरोधी एवं बुरा मानते थे। बी० एल० मेघवाल लिखते हैं “मुसलमानों द्वारा पृथक मताधिकार की मांग को अनावश्यक मानते हुए डॉ० अम्बेडकर ने बताया कि मुसलमान भारत में ही अल्पसंख्यक नहीं हैं, बलगेरिया, ग्रीस, रुमानिया आदि में वे अल्पसंख्यक हैं, किन्तु वहां तो वे पृथक मताधिकार की मांग नहीं करते। अतः भारत में यह मांग राष्ट्रविरोधी मांग मानी जानी चाहिए।”<sup>1</sup>

### 9. स्वतन्त्र निर्वाचन की समस्या

जब महात्मा गांधी दक्षिणी अफ्रीका में थे, और उनसे कांग्रेस से मतलब नहीं था, तभी अर्थात् सन् 1909 ई० में ब्रिटिश-सरकार ने भारतीय मुसलमानों के लिए स्वतंत्र निर्वाचन अधिकार का वातावरण बना दिया था और कांग्रेस-लीग-ऐक्ट में 1917 ई० में ही उन्हें उसका अधिकार मिल गया था। इस समय कांग्रेस में लोकमान्य तिलक का वर्चस्व था, गांधी का तो कांग्रेस में केवल प्रवेश था।

ब्रिटिश सरकार भारत को टुकड़े-टुकड़े करके उस पर राज करना या विदा होना चाहती थी। उसने सन् 1932 में घोषणा की कि भारत के विविध संप्रदायों को स्वतन्त्र निर्वाचन अधिकार होगा। इसको लेकर राष्ट्रीय नेता विचलित हो गये। इसके साथ हिन्दुओं में अछूतों को अलग निर्वाचन अधिकार होगा, इसका गांधीजी ने विरोध किया। उन्होंने संप्रदायों के आधार पर अलग निर्वाचन अधिकार को एकदम गलत बताया। गांधी जी ने कहा कि अछूत कहे जाने वाले बंधुओं को हिन्दुओं से काटकर अलग निर्वाचन अधिकार देना हम बिलकुल नहीं सहेंगे। गांधी जी ने इसके विषय में आमरण अनशन की घोषणा की। उस समय वे पूणे के यरवडा जेल में बन्द थे।

गांधी जी उपवास से बहुत कमजोर हो गये थे। डॉ० अम्बेडकर उनसे जेल में मिले और उन्होंने गांधी जी से धीरे से कहा “महात्मा जी, आपने हमारे साथ बहुत अन्याय किया है।” महात्मा गांधी ने कहा “हमारा पक्ष सदा ही अन्याय करता ही दिखाई देता है।”<sup>2</sup> डॉ० अम्बेडकर ने अपने पक्ष की सारी बातें बतायीं। इसका गांधी जी पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने डॉ० अम्बेडकर से कहा “आपके साथ मेरी पूर्ण सहानुभूति है। आपने जो बातें कहीं, उनमें से अधिकांश

1. वही, पृष्ठ 55 ।

2. वही, पृष्ठ 88 ।

में मैं आपके साथ हूँ। किन्तु आप यह बताइए कि आप मेरे जीवन को बचाना चाहते हैं?” डॉ० अम्बेडकर ने उत्तर दिया “हां, महात्मा जी, इस आशा से कि आप हम लोगों के हित के लिए अपना जीवन समर्पित करेंगे और हमारे नायक भी बनेंगे।”<sup>1</sup>

गांधी जी ने कहा “डॉक्टर, आप जन्म से अछूत हैं और मैं दत्तक रूप से अछूत हूँ। हमें एक और अविभाजित होना है। मैं अपना जीवन हिन्दू-समाज की विषमताओं को दूर करने में लगाने के लिए तैयार हूँ।”<sup>2</sup>

इसके बाद डॉ० अम्बेडकर ने महात्मा गांधी की सम्मति मान ली और अछूत कहे जाने वाले वर्ग के लिए पृथक निर्वाचन अधिकार की बात समाप्त हो गयी। समझौते के बाद दोनों नेताओं के हस्ताक्षर हुए और इसकी सूचना ब्रिटिश सरकार को दे दी गयी। अभी तक गांधी जी द्वारा अछूतों का काम जो मंदगति से चलता था, वह आज से खूब जोरदार ढंग से चलने लगा, जिसे पाठक ‘महात्मा गांधी’ के जीवन में पढ़ सकते हैं।

गांधी और अम्बेडकर के अभियान से अछूत कहे जाने वाले तथा दलित वर्ग का जो उत्थान कार्य हुआ वह आज बीसवीं सदी के आखिर दशक में प्रत्यक्ष आनंदप्रद है।

#### 10. पार्टी का गठन, विधि मन्त्री

डॉ० अम्बेडकर ने 1936 ई० “इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी” का गठन किया। 15 अगस्त सन् 1947 ई० में भारत स्वतंत्र होने पर प्रधानमंत्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने डॉ० अम्बेडकर को विधिमन्त्री बनाया, जबकि वे कांग्रेस के आलोचक एवं विरोधी पार्टी के थे।

#### 11. संविधान-निर्माता एवं बीसवीं सदी के मनु

पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने स्वतंत्र भारत का संविधान बनाने के लिए एक समिति गठित की जिसका अध्यक्ष डॉ० अम्बेडकर को बनाया। आज के भारतीय संविधान की रचना का श्रेय डॉ० अम्बेडकर को ही अधिक जाता है। इसीलिए उन्हें बीसवीं सदी का मनु कहा जाता है।

डॉ० अम्बेडकर ने “हिन्दू कोड बिल” बनाने में भी बड़ा श्रम किया था। परन्तु वह उसी रूप में पास न होकर काट-छांटकर पास हुआ। इसलिए डॉ० अम्बेडकर खिन्न होकर विधि-मन्त्री पद से इस्तीफा देकर विपक्ष के आसन पर बैठ गये।

---

1. वही, पृष्ठ 88 ।

2. वही, पृष्ठ 88 ।

डॉ० अम्बेडकर 1952 तथा 1954 में चुनाव हार गये। क्योंकि उस समय देश-व्यापी बलवान पार्टी कांग्रेस थी। उसके सामने किसी की विजय होना कठिन था। परन्तु डॉ० अम्बेडकर जैसे योग्यतम व्यक्ति के लिए चुनाव की जीत-हार महत्त्व नहीं रखती। वे इस जीत-हार से बहुत ऊंचे थे।

## 12. पुनर्विवाह

डॉ० अम्बेडकर को मधुमेह रोग हो गया था। उनको डॉक्टर ने राय दी कि आप किसी युवती से विवाह कर लें तो रोग अच्छा हो जायेगा। वस्तुतः कभी-कभी डॉक्टर ही रोग बन जाता है। यद्यपि “अपने पिता का दूसरा विवाह कर लेना भीम को पसंद नहीं आया था। इससे उनके स्वाभिमान को ठेस लगी थी।”<sup>1</sup> तथापि वही भूल आज उन्होंने स्वयं के लिए कर डाली और अपने 56वें जन्मदिन के दूसरे दिन डॉ० सविता कबीर से उन्होंने अपना विवाह रचा डाला। बुढ़ापा में युवती से विवाह एक और विडंबना है। फल यह हुआ कि नव-पत्नी से सम्बन्ध मधुर नहीं रह सका। “6 दिसम्बर 1956 को डॉ० अम्बेडकर के आकस्मिक निधन ने संदेहों की जो परिधि खींची है उस घेरे में डॉ० (श्रीमती) सविता अम्बेडकर का नाम भी आता है।”<sup>2</sup>

## 13. बौद्ध दीक्षा

डॉ० अम्बेडकर ने 1935 में ही धर्मांतरण ग्रहण करने की बात कही थी। उन्होंने 14 अक्टूबर 1956 में नागपुर में बौद्ध भिक्षु से दीक्षा ग्रहण की थी।

डॉ० अम्बेडकर “हिन्दूधर्म विरोधी कतई नहीं थे। वे हिन्दूधर्म के दोहरे मानदण्डों के विरोधी थे। हिन्दू कोड बिल पारित कराने के उनके अथक प्रयासों के पीछे भी एक ही उद्देश्य था कि इस धर्म में जो विसंगतियां हैं वे दूर हो सकें और सब हिन्दू एक ‘कॉमन पर्सलन लॉ’ से नियंत्रित हों। इस सम्बन्ध में लोकसभा में हुई बहस में उन्होंने सरदार हुकुम सिंह के द्वारा की गयी आपत्तियों के उत्तर में भारत के विधि मंत्री के रूप में कहा था कि इस देश के कानून की दृष्टि में हिन्दू, सिख, जैन और बौद्ध एक ही कानून से नियंत्रित होते हैं, पृथक-पृथक कानून से नहीं।”<sup>3</sup>

वैसे धर्म-परिवर्तन शब्द अपने आप में एक धोखा है। धर्म का परिवर्तन तो समझदार करेगा ही नहीं। सत्य ज्ञान तथा सत्य आचरण धर्म है। अतः धर्म का परिवर्तन है असत्य ज्ञान तथा असत्य आचरण पर चलना। अतएव मानवता के लिए धर्म-परिवर्तन असंभव है। हां, मत-परिवर्तन, दीक्षा-परिवर्तन, उपासना-

1. वही, पृष्ठ 23 ।

2. वही, पृष्ठ 123 ।

3. वही, पृष्ठ 134 ।

परिवर्तन आदि होते हैं। डॉ० अम्बेडकर इस दिशा में बहुत दूरदर्शी थे। उन्होंने कुछ हिन्दुओं की अनुदारता की जड़ता की प्रतिक्रिया में जाकर भी बुद्धमत से ही दीक्षा ली जो हिन्दुत्व की वृहत्तम परिधि के भीतर ही है।

वैसे डॉ० अम्बेडकर को बौद्ध दीक्षा की भी आवश्यकता न पड़ती यदि वे अपने पैतृक कबीरपंथ को यादकर संत कबीर की गरिमा को समझ सके होते। जाति-पांति और वर्णाभिमान की धज्जियां जिस तरह संत कबीर ने उड़ाई हैं, उसका एक अंश भी मूल बुद्ध वचन में नहीं मिलेगा। एक तरफ अध्यात्म की उच्चतम स्थिति में पहुंचा और दूसरी तरफ सामाजिक विषमता का घोरतम विरोधी भारत में यदि कोई है, तो अद्वितीय सन्त कबीर हैं।

डॉ० धर्मवीर ने ठीक ही लिखा है—“वास्तव में यदि बाबा साहब (अम्बेडकर) के पास उस समय भारत के तमाम दलित संतों का साहित्य उपलब्ध होता तो वे बुद्ध की शरण जाने के बजाय अपने संतों के ढिग बैठते। तब वे त्रिपिटक में माथापच्ची कर सिर खपाने के बजाय निर्गुण शब्द वाणी की गंगोत्री में आनंद स्नान करते। उन्हें मजबूरी में ही इतनी दूर जाना पड़ा, अन्यथा वे अपना ही महत्त्व बनाते। यहां बौद्धधर्म की आलोचना करने का अवसर नहीं है। लेकिन लगता है कि धार्मिक युद्ध के इस हौदे में बाबा साहब ठीक से बैठ नहीं पाये। बौद्धधर्म से कुछ लेने के बजाय उन्हें उसे देना कुछ ज्यादा पड़ गया। बौद्धधर्म दलितों को क्या दे सकता था? उलटे दलितों का काम यह हो गया कि वे बौद्धधर्म पर लगाये गये ऐतिहासिक लांछनों को अपने सिर ढोयें। ... बौद्धधर्म से वर्णव्यवस्था, जातिप्रथा और अस्पृश्यता का भी गृहस्थ जीवन में खण्डन नहीं हो पाता वह इनका खंडन केवल भिक्षुओं में कर पाता है। यहां कबीर का चिंतन ही कमल की तरह खिलता है कि ‘बहुरि हम काहे आवेगें’ तथा ‘जो तू बाभन ब्राह्मणी जाया, आन बाट काहे नहिं आया।’<sup>1</sup>

#### 14. व्यक्ति-पूजा के विरोधी

डॉ० अम्बेडकर व्यक्ति-पूजा के विरोधी थे। बी.एल. मेघवाल लिखते हैं “डॉ० अम्बेडकर व्यक्ति-पूजा की हानियों से भली प्रकार परिचित थे। उन्होंने व्यक्ति-पूजा की कटु आलोचना की। जिन चिंतकों, विचारकों ने भारतवासियों की व्यक्ति पूजक मानसिकता का तटस्थ विश्लेषण किया है उन सबको व्यक्तिपूजा के भयंकर खतरों के दुष्परिणामों ने बहुत विचलित किया।”<sup>2</sup> परन्तु डॉ० अम्बेडकर के अनुयायियों द्वारा यह खतरा आज उन्हीं के लिए उपस्थित होता जा रहा है। जिस तरह उनकी मूर्तिस्थापना और उनके नाम पर कथा एवं पूजा शुरू हो गयी है वह भयावह है।

1. हरिजन से दलित, पृष्ठ 147-148, लेखक: डॉ० धर्मवीर।
2. भारत रत्न डॉ० बी० आर० अम्बेडकर, पृष्ठ 141।

### 15. देहावसान

डॉ० अम्बेडकर दिल्ली के अपने निवास स्थान में थे। वे अस्वस्थ तो चल रहे थे, परन्तु “5 दिसम्बर को उनका स्वास्थ्य सामान्य था।”<sup>1</sup> श्रीमती सविता अम्बेडकर अतिथि डॉ० मावलंकर के साथ दिन के डेढ़ बजे कुछ खरीदारी के लिए बाजार गयीं, तो पांच बजे के बाद लौटीं। डॉ० अम्बेडकर ने उन पर काफी नाराज होकर उन्हें बहुत भला-बुरा कहा। श्रीमती सविता ने सेवक रत्नू से कहा कि वह मालिक को शांत करे।

जैनों का एक शिष्ट मण्डल मिलने आया था। जब डॉ० अम्बेडकर उनसे बात कर रहे थे तब उनके अतिथि डॉ० मावलंकर रात्रिकालीन उड़ान से बम्बई के लिए प्रस्थान कर गये।<sup>2</sup>

रत्नू सेवक डॉ० अम्बेडकर के पांव दबाये तथा सिर में तेल की मालिश की। डॉ० अम्बेडकर मंद स्वर से गुनगुना रहे थे “बुद्धं शरणं गच्छामि”। अंततः अपने सोने के कमरे में जाते समय कबीर साहेब का एक भजन गुनगुना रहे थे “चल कबीरा तेरा भवसागर डेरा”।

रात में श्रीमती सविता तथा रसोइया सुदामा के अलावा कोई नहीं था। “अगले दिन 6 दिसम्बर की सुबह श्रीमती सविता अम्बेडकर जब साढ़े 6 बजे उठीं, तो उन्होंने अपने पति को सोते हुए देखा। सदा की भांति उन्होंने बगीचे में थोड़ी चहलकदमी की और लौटकर अपने पति को जगाना चाहा तो उन्होंने उन्हें मृत पाया।”<sup>3</sup>

“डॉ० अम्बेडकर की असामयिक मृत्यु को लेकर उनके पुत्र श्री यशवंत राव बी० अम्बेडकर तथा बाबा साहेब के कई अनुयायियों को शंका थी कि हो सकता है कि उनकी मृत्यु के पीछे कोई साजिश हो। बाबा साहेब के पुत्र श्री यशवंत द्वारा इस सम्बन्ध में दिल्ली पुलिस में प्राथमिकी भी दर्ज करायी गयी थी। बाबा साहेब के दुभाषिये श्री सोहनलाल शास्त्री ने अपने प्रकाशित संस्मरणों में भी ऐसी आशंका व्यक्त की है। इस सम्बन्ध में 26 नवम्बर, 1957 ई० को तत्कालीन गृहमन्त्री पण्डित गोविंद वल्लभ पंत ने लोकसभा में इस आशय का वक्तव्य देकर इस प्रकरण का पटाक्षेप किया कि डॉ० अम्बेडकर की मृत्यु एक स्वाभाविक मृत्यु है।”<sup>4</sup>

1. वही, पृष्ठ 148।

2. वही, पृष्ठ 148।

3. वही, पृष्ठ 149।

4. वही, पृष्ठ 150।

### 16. उपसंहार

भारत के धार्मिक क्षेत्र में शूद्र कहे जाने वाले वंश में कृष्णद्वैपायन, सौति आदि अगणित महापुरुष हुए हैं जो हिन्दू-समाज की रीढ़ में हैं। राजकाज में भी मगध की गद्दी पर नन्दवंश एवं मौर्यवंश भारत के महान शासक हुए जिसने क्रमशः प्रसिद्ध महान सिकंदर का सामना किया और पीछे उसके सरदार सैल्यूकस को परास्तकर उन्हें अधीन किया। मौर्यवंशी महान अशोक की सुकीर्ति कौन नहीं जानता है जो शूद्रवंश के ही माने जाते हैं। छत्रपति शिवाजी भी शूद्रवंश के ही माने जाते हैं जिनके राज्याभिषेक को लेकर ब्राह्मणों ने बहुत खींचातानी की थी। अन्त में करोड़ों रुपयों की दान-दक्षिणा के बाद ब्राह्मणों द्वारा उनका राज्याभिषेक हो सका था। परन्तु इस शूद्र कहे जाने वाले छत्रपति शिवाजी का वर्चस्व जगजाहिर है।

इस बीसवीं सदी में डॉ० भीमराव अम्बेडकर भारत के एक ऐसे रत्न हुए जो शूद्र कहे जाने वाले वंश में जन्म लिये थे। उन्होंने भारत और भारत के बाहर तथा दिल्ली से लंदन तक के राजभवनों में विषमता के विरोध में ऐसा हुंकार किया, जिससे भारत के सवर्ण कहे जाने वाले लोगों को पुनर्विचार करने के लिए विवश होना पड़ा। स्वतन्त्र भारत के दलित वर्ग की उन्नति तथा सब क्षेत्रों में अधिकार प्राप्ति में कारण भारतीय कांग्रेस पार्टी, अन्य राजनीतिक पार्टियां, समय आदि हैं ही, डॉ० अम्बेडकर का बहुत बड़ा योगदान है।



## महापंडित राहुल सांकृत्यायन

सरल, उदार, कारुणिक, दृढ़निश्चयी, अटूट परिश्रमी, अद्भुत भ्रमणशील, नदी की धारा की तरह कहीं न रुकनेवाला, भारतीय विद्वतनभ का एक चमकता तारा, लगभग तैंतीस भाषाओं का जानकार और विविध विषयों पर करीब डेढ़ सौ ग्रंथों का लेखक महापंडित राहुल सांकृत्यायन का यहां सरल परिचय देने का प्रयास किया जा रहा है।

### 1. जन्मस्थान और जन्मकाल

महापंडित राहुल सांकृत्यायन उत्तर प्रदेश के आजमगढ़ जिले के पंदहा नामक ग्राम में गोबर्धन पांडे तथा कुलवंती देवी माता-पिता से 9 अप्रैल, 1893 ई० में जन्म लिये। राहुल जी चार भाई और एक बहिन में स्वयं सबसे बड़े थे। इनका बचपन का नाम केदार पांडे था।

पिता गोबर्धन पांडे धार्मिक विचार के थे और एक साधारण किसान थे। माता कुलवंती अपने माता-पिता के यहां अर्थात् नैहर में रहती थीं, पिता भी वहीं रहते थे। जब राहुल जी चार वर्ष के थे तब भयंकर अकाल पड़ा था। उसकी स्मृति उनके मानस पटल पर बचपन की पहली बड़ी छाप थी। राहुल के बचपन में ही उनकी माता और एकमात्र बहिन की मृत्यु हो गयी थी।

### 2. पढ़ाई

राहुल जी जब पांच वर्ष के हुए तब एक मदरसे में पढ़ने के लिए उनकी भरती करायी गयी और फारसी लिपि तथा उर्दू भाषा से उनकी पढ़ाई आरंभ हुई। वे कुछ समय काशी के चक्रपाणि ब्रह्मचारी के मठ में संस्कृत पढ़ते रहे। वे लाहौर, चित्रकूट, जबलपुर आदि घूमते-घूमते संस्कृत पढ़ते रहे, परन्तु स्वतन्त्रता आंदोलन के अपने राजनीतिक विचारों के कारण संस्कृत में शास्त्री की परीक्षा में भी उत्तीर्ण नहीं हुए। वे बिना किसी डिग्री पाये भी अपने अध्यवसाय के बल पर संस्कृत के प्रकांड पंडित हो गये। उन्होंने संस्कृत, अरबी, फारसी, इंगलिश, तिब्बती आदि लगभग तैंतीस (33) भाषाएं सीखीं। परंतु वे जीवन भर संस्कृत तथा हिन्दी ही में लिखते रहे।

### 3. भ्रमण और ज्ञान का शौक

उनको देश-देशांतर घूमने और ज्ञानार्जन का बड़ा शौक था। जब वे नौ वर्ष के थे तभी घर छोड़कर वाराणसी भाग गये और चौदह वर्ष की उम्र में कलकत्ता भाग गये। वे कलकत्ता दो वर्ष रहे। महानगरी में अनेक ठोकड़ें खाकर दो वर्ष के बाद घर लौट आये। परंतु उनका साहस कम नहीं हुआ और पुनः कलकत्ता गये और एक तम्बाकू की दुकान पर कारिंदा बने। उनके मन में यह इच्छा नहीं थी कि वे पढ़ाई से डिग्री प्राप्त करें, धन कमायें और गृहस्थी बसायें। उन्हें घूमने, ज्ञानार्जन करने के साथ साधु जीवन बिताने का शौक हुआ और कलकत्ता से बनारस की तरफ लौट आये।

राहुल जी अपनी सत्तरह वर्ष की उम्र में साधुओं का साथ कर भ्रमण करने लगे। उनकी इच्छा थी कि मूल संस्कृत में वेदांत पढ़ें। वे बनारस की तरफ से पैदल चलकर अयोध्या और मुरादाबाद गये और वहां से बिना टिकट ट्रेन से हरिद्वार गये। वहां से ऋषिकेश, देवप्रयाग, बद्री, केदार, जमनोत्री, गंगोत्री तक की साधुओं के साथ पद-यात्रा की और उनके साथ गांजा की चिलम भी पी। इस समय उनकी उम्र सत्तरह वर्ष की थी। वे यात्रा से लौटकर बनारस आ गये और चक्रपाणि ब्रह्मचारी के मठ में लघु कौमुदी पढ़ने लगे। बनारस में ही रहकर उन्होंने काव्य, इतिहास, व्याकरण, आयुर्वेद, ज्योतिष आदि अनेक विषयों के संस्कृत-ग्रंथ पढ़े। कई सिद्धियों को पाने के लिए उन्होंने जप, तप, देव-प्रार्थनाएं भी कीं।

### 4. साधुवेष की दीक्षा

जब राहुल उन्नीस (19) वर्ष के हुए तब उन्होंने संस्कृत के एक प्रकांड पंडित का भाषण सुना। पंडित का नाम था रामावतार शर्मा। वे न वेद की अपौरुषेयता पर विश्वास करते थे और न ईश्वर पर। उनका भाषण एवं चिंतन तर्कपूर्ण था। राहुल के मन पर उस भाषण का गहरा प्रभाव पड़ा। राहुल जी परसा मठ में विधिवत वैष्णव-साधुवेष में दीक्षित हो गये। उनका नाम केदार पांडे से बदलकर 'रामउदार दास' पड़ा। वे मंदिर के पूजा-पाठ तथा सेवाकार्य से समय निकालकर अपना अध्ययन जारी रखते थे।

### 5. साधुवेष में भ्रमण

राहुल जी को परसा मठ में बौद्धिक संतोष नहीं मिला। वे 1913 ई० में मठ छोड़कर ट्रेन द्वारा हाजीपुर चले गये, फिर वहां से बिना टिकट आसनसोल, आद्रा, खड़गपुर होते हुए जगन्नाथपुरी पहुंचे। इसके बाद मद्रास पहुंचे। इसके बाद तिरुमलै तक पैदल गये; फिर पुन्नमलै, पच्छपेरुमाल, तिरमिशि और तिरन्नूर गये। वहां वे तमिल भाषा सीखने लगे। वे तिरुपति, तिरुकलिकुंड्रम, कांचीपुरम और रामेश्वरम गये। इतना ही नहीं, वे रामनाड, बंगलौर, विजयनगर,

बागलकोट, पंढरपुर, पुणे, बंबई, नासिक, त्रयंबक, कपिल धारा, ओंकार, मांधाता, उज्जैन का कुंभ, डाकोर, अहमदाबाद होते हुए 1914 ई० में परसा मठ लौट आये।

### 6. वैष्णवता से आर्य समाज की ओर

राहुल जी का मन पुनः मठ में नहीं लगा और वे मठ को छोड़कर किसी को बिना बताये अयोध्या चले गये। अयोध्या तथा फैजाबाद के बीच में आर्यसमाज मंदिर एवं विद्यालय है। राहुल जी ने जब आर्य समाजियों से मुलाकात की तब उनके विचार उन्हें पैसे लगे। उन्होंने आर्यसमाज के विचारों को लेकर वाद-विवाद शुरू किया। अयोध्या और फैजाबाद के बीच में एक देवकाली मंदिर है, जो आज भी है। वहां उसकी पूजा में बकरे की हत्या की जाती थी। राहुल जी ने इसका विरोध किया। इसको लेकर सनातन धर्मी कहलाने वाले पुरोहितों द्वारा राहुल जी मारे-पीटे गये। राहुल जी मूर्तिपूजा विरोधी कट्टर आर्य-समाजी बन गये थे। उनको अपने मारे-पीटे जाने की परवाह नहीं थी।

राहुल जी जनवरी, 1915 ई० में आगरा पहुंचकर मुसाफिर विद्यालय में अपनी भरती कराकर पढ़ने लगे। वे दो वर्षों तक संस्कृत, अरबी तथा कई संप्रदायों के धर्मशास्त्र और राष्ट्रीय इतिहास पढ़ते रहे। इसके साथ उन्होंने उर्दू और हिन्दी में अखबारों के लिए लेख लिखना शुरू किया। लेख के विषय होते थे ढोंगी साधु-वेषधारियों का परदाफास जो गृहस्थों को ठगने वाले होते थे। राहुल जी बराबर तार्किक ग्रंथ पढ़ते थे।

### 7. आर्यसमाज से भी उदासीनता

धीरे-धीरे राहुल जी को आर्यसमाज भी एक जड़ रूढ़िबद्ध संप्रदाय लगने लगा। वे इटावा, कानपुर, लखनऊ आदि के आर्यसमाज कार्यालयों में गये, परन्तु उनका मन हर जगह से हटता गया। उन्होंने रायबरेली में हिन्दी भाषा और साहित्य पर भाषण दिया और वाराणसी में उनके भाषण हुए। इसी क्रम में अहरोरा में राहुल जी के पिता उनसे मिलने आये और उन्होंने उन्हें समझा-बुझाकर घर ले जाना चाहा, परन्तु वे घर नहीं गये, और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि मैं अपनी पचास वर्ष की उम्र के पहले आजमगढ़ में नहीं लौटूंगा। यह पिता जी से राहुल जी की अंतिम भेंट थी। इस समय राहुल जी अपनी डायरी प्रायः संस्कृत में लिखते थे। पत्र भी प्रायः संस्कृत में लिखते थे। पद्य संस्कृत, अरबी, उर्दू, हिन्दी आदि में रचा करते थे।

वे सन् 1920 ई० में जब सत्ताइस वर्ष की उम्र के थे पहली बार वाराणसी से उत्तर स्थित सारनाथ गये जहां बौद्धों का अवशेष है, और वहां से गोरखपुर के पास कसया गये जहां तथागत बुद्ध का परिनिर्वाण हुआ था। इसके

बाद लुंबनी और कपिलवस्तु गये जहां तथागत बुद्ध का जन्म हुआ था। उन्होंने निगलिहरा के तालाब के पास भग्नावस्था में अशोक कालीन शिलालेख देखा जो उनके मन को प्रभावित किया।

### 8. राजनीतिक प्रेरणा

राहुल जी हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी भाषा के अखबार पढ़ते रहते थे। उन्होंने सन् 1918 ई० में रूस की साम्यवादी राज्य-क्रांति के समाचार पढ़े और उनका मन उस तरफ दौड़ने लगा। उन्होंने 1922 ई० में साम्यवाद पर संस्कृत में एक प्रारूप ही लिख डाला। वे सन् 1921 ई० में भारतीय कांग्रेस में प्रवेश किये और उनकी राजनीतिक यात्रा शुरू हो गयी। उन्होंने कांग्रेस के असहयोग आंदोलन में सक्रिय भाग लिया और खंडवा में इस पर भाषण दिया। वे अंग्रेज सरकार द्वारा गिरफ्तार कर हजारीबाग जेल में बंद कर दिये गये। उसी जेल में उन्होंने बाइसवीं सदी नाम की पुस्तक लिख डाली।

कुछ ऐसे लोग थे जो पूजा के नाम पर बकरे, मुरगे, गांजा, शराब आदि चढ़ाते रहते थे। राहुल जी ने उन्हें इन दुर्गुण एवं दुराचारों से रोका, परन्तु उन पर इसका असर नहीं हुआ, तब उन्होंने उन अंधविश्वासों पर प्रभाव डालने के लिए एक अभिनय किया। राहुल जी ने चिल्लाकर कहा कि मेरे भीतर गांधी बाबा नाम का एक नया देवता जाग्रत हो गया है, और अन्य सारे देवता उसके सहयोगी हो गये हैं। अब यदि कोई पूजा के नाम पर बकरे-मुरगे की हत्या करेगा और गांजा-शराब आदि चढ़ायेगा तो मैं उसे शाप दूंगा और उसका विनाश हो जायेगा। उस समय राहुल जी साधुवेश में थे। उनके इस नाटकीय ढंग का अंधविश्वासियों पर प्रभाव पड़ा और वे पूजा के नाम पर जीव-हत्या तथा नशा छोड़ दिये।

गांधीजी की राजनीति समाज-सेवा के सहित थी। इसलिए राहुल जी इससे प्रभावित थे। उन्होंने अपने साधुवेश में रहते हुए छपरा जिले के बाढ़-पीड़ितों की सेवा की। उन्होंने एकमा में गांधी स्कूल से चरखे बांटे और अंग्रेजी राज्य के विरोध में भोजपुरी भाषा में अनेक भाषण दिये। वे 31 जनवरी, 1922 ई० को पकड़कर जेलखाने में डाल दिये गये। उन्हें जेलखाने में ही कहीं से ट्राट्स्की रचित 'बोल्शेविज्म और विश्व-क्रांति' नाम की पुस्तक मिल गयी। इसे पढ़कर उनका मन प्रभावित हुआ और उन्होंने जेलखाने में ही संस्कृत भाषा में एक गीत की रचना की—“शृणु-शृणु रे पांथ, अहमिव नह्येकाकी!” अर्थात् हे पथिक! सुनो-सुनो, मैं अकेला नहीं हूँ। यह गीत वे उच्च स्वर में गाते हुए जेलियों को सुनाते थे।

राहुल जी ने मजिस्ट्रेट के सामने अपना राजनीतिक अपराध स्वीकार कर लिया। अतएव जब उन्हें मजिस्ट्रेट ने छह महीने का कारावास दिया तब राहुल

जी ने उसे धन्यवाद दिया। उनके हाथों में हथकड़ियां पहनायी गयीं। उन्होंने आत्मकथा में लिखा है, “जब दादा ने चांदी के कड़े इन कलाइयों में डाले थे, तब वे इन बेड़ियों की ही तरह थे, फर्क सिर्फ इतना था कि जब वे हाथ बेड़ी से जकड़ जाते हैं तो काम उतनी ही अच्छी तरह से नहीं हो पाता।”<sup>1</sup> इसी जेल में रहते हुए राहुल जी ने भारतेंदु हरिश्चंद्र रचित नाटक ‘अंधेरी नगरी’ को खेला और यहीं रहकर उन्होंने कुरआन का संस्कृत भाषा में अनुवाद करना शुरू किया। इसके साथ वे जेल के साथियों को उपनिषद् और वेदांत पढ़ाते थे। जेल का समाचार रहस्यमय ढंग से नित्य बाहर भेजे जाते थे जो मद्रलैण्ड नाम के अखबार में छपते थे।

राहुल जी 29 अक्टूबर, 1922 ई० जिला कांग्रेस कमेटी के सचिव चुने गये। किन्तु उनके विचार कम्युनिज्म की तरफ बड़ी तेजी से बदल रहे थे। उनमें साम्प्रदायिक निरपेक्षता की भावना बढ़ती गयी और वे अंततः भौतिकवादी हो गये। 1923 ई० में राहुल जी ने करीब पैंतालिस दिन नेपाल में बिताये। उन दिनों नेपाल सरकार भारत के हिन्दुओं को केवल शिवरात्रि के दिन पशुपतिनाथ के दर्शनार्थ जाने की आज्ञा देती थी। राहुल जी ने इसी बीच अनेक बौद्ध विद्वानों, भिक्षुओं, मंगोल और चीनी लामाओं से मिलकर उनके विषय में जानने का प्रयत्न किया।

राहुल जी जब नेपाल से लौटे तब अंग्रेज सरकार ने उन्हें पुनः पकड़कर बांकीपुर जेल में अकेले कैद की कोठरी में बंद कर दिया। इसके बाद वहां से उन्हें हजारीबाग के जेलखाने में लाकर दो वर्षों तक बंद रखा गया। उस समय उनके पास पालिमूल में मंझिम निकाय बौद्ध ग्रंथ था जिसे उन्होंने दो दिन के उपवास से पुलिस से प्राप्त किया था। वे उसे पढ़ा करते थे। साथ-साथ केरल से बंदी बनाकर लाये गये एक शंकराचार्य से जो उसी जेल में रहते थे उन्होंने गणित, बीजगणित, रेखागणित, आष्टिक्स और ज्योतिष का ज्ञान परिमार्जित किया।

हजारीबाग का जेलर एंग्लो-इण्डियन था और दयालु था। उसने बच्चों के लिए पढ़ने वाली इंग्लिश की किताबें राहुल जी के लिए भेजी। उन्होंने इसी जेल में रहकर चार अंग्रेजी उपन्यास जो रहस्य और साहस का बोध देते थे उनका हिन्दी में अनुवाद किया और केवल पुस्तक के आधार पर फ्रांसीसी और आवेस्तन भाषाएं सीखीं।

### 9. भदंत आनंद कौसल्यायन से भेंट और पुनः यात्रा

राहुल जी ने 1926 ई० में मेरठ में हरनामदास से भेंट की जिनका पीछे ब्रह्मचारी विश्वनाथ नाम पड़ा और उसके बाद बौद्ध भिक्षु आनंद कौसल्यायन,

1. राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ 18, लेखक : प्रभाकर माचवे, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली।

जिन्हें हम भदंत आनंद कौसल्यायन नाम से जानते हैं। मिलने के बाद आजीवन दोनों की मित्रता बनी रही।

इसके बाद राहुल जी कश्मीर गये। वहां से कारगिल होते हुए लद्दाख पहुंचे और हेमिस के लामा 'स्ताकसांग-रस-पा' से उन्होंने भेंट की। काल्पी में उन्होंने कुछ मोहिनी विद्या सीखी जिसे मेस्मेरिज्म कहते हैं। वे वहां से अठारह हजार फीट की ऊंचाई पर खारदोंग-ला तक गये और वहां के एक साठ वर्ष की उम्र के रिझोंग नाम के लामा से मिले। इसके बाद वे न्युब्रा तथा लेह होते हुए मान-पांग-गोंग सरोवर गये, फिर चुमूर्ति-किन्नोर होते हुए शिमला पहुंचकर वापस आये। यह तिब्बत की सीमा पर उनकी यात्रा साहसपूर्ण थी।

इस यात्रा में राहुल जी के सामने एक तिब्बती कुत्ते की मृत्यु हुई थी जिसका उन्होंने बड़ा भावपूर्ण वर्णन दिया है। "वे लिखते हैं—“मेरी आंखें जो प्रिय माता-पिता और स्नेहमय नाना-नानी की मृत्यु पर भी गीली नहीं हुई थीं, इस कुत्ते की मौत पर आंसुओं से भर आईं। मैंने कुत्ते पर संस्कृत में आठ श्लोक की शोकांजलि रची, प्रत्येक श्लोक की अन्तिम पंक्ति थी—संग तुके! त्वत्प्रयाणे!”<sup>1</sup> कुत्ते का नाम 'संग-तुक' था।

राहुल जी बिहार लौट आये और राजनीतिक आंदोलनों में पुनः भाग लेने लगे। उन्होंने छपरा में राजेन्द्र प्रसाद के साथ भाषण दिये। वे 1926 ई० में गौहाटी कांग्रेस में काम किये। फरीदपुर में उन्होंने मजहूरल हक से भेंट की और उनकी आध्यात्मिक पुस्तकों का बहुत बड़ा ग्रंथालय देखा। 30 मार्च, 1927 ई० को अंतिम बार परसा पहुंचे। वहां उन्होंने प्रतिज्ञा की कि जमींदारी प्रथा का अंत होने पर ही पुनः परसा आऊंगा।

#### 10. श्रीलंका की यात्रा और वहां अध्ययन

राहुल जी श्रीलंका जाना चाहते थे। कलकत्ता की महाबोधि सोसाइटी ने उनकी सहायता की और वे श्रीलंका जाकर वहां के विद्यालंकार परिवेण में उपस्थित हुए। वे वहां 16 मई सन् 1927 ई० से दिसम्बर सन् 1928 ई० तक उन्नीस महीने से अधिक समय तक बौद्ध ग्रंथों का अध्ययन करते रहे। वहां रहते हुए उन्होंने भारतीय सांस्कृतिक इतिहास की अपनी जानकारी में भी वृद्धि की। पहले हजारीबाग के जेलखाने में रहकर राहुल जी ने ब्राह्मी लिपि का ज्ञान प्राप्त किया था। उन्होंने वहां रहकर देश-विदेश से प्रकाशित अनेक पत्र-पत्रिकाओं का अध्ययन किया था। पहले वे अपने ब्राह्मण संस्कारों से ईश्वर विश्वास का बौद्ध-विचारों से समन्वय करने का प्रयत्न करते रहे, परन्तु यह बात ज्यादा दिनों तक स्थिर नहीं रही।

1. वही, पृष्ठ 19।

दिसम्बर 1927 ई० में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन मद्रास में हुआ था। राजेन्द्र प्रसाद मद्रास से श्रीलंका गये। राहुल जी राजेन्द्र प्रसाद का वहां मार्गदर्शन करते रहे।

राहुल जी ने अपना सुस्थिर लेखन-कार्य श्रीलंका से ही शुरू किया है। वे श्रीलंका के सम्बन्ध में लेख लिखते थे और इलाहाबाद से प्रकाशित सरस्वती हिन्दी त्रैमासिक में छपने भेजते थे। वहां के कुछ विद्यार्थियों को वे संस्कृत भी पढ़ाते थे। श्रीलंका में रहकर राहुल जी ने सिंहली और फ्रांसीसी अच्छी तरह सीख ली। श्रीलंका में रहते-रहते उनके मन में तिब्बत जाने की इच्छा तीव्र हो गयी थी। राहुल जी श्रीलंका से भारत लौट आये।

बख्तियार खिलजी ने बिहार प्रदेश के विक्रमशिला और नालंदा विश्वविद्यालय पर हमला किया था। ये दोनों विश्वविद्यालय आज के भागलपुर तथा नालंदा जिले में पड़ते हैं। ये दोनों विश्वविद्यालय बौद्धों के थे। बौद्ध भिक्षु विद्वान उक्त दोनों विश्वविद्यालयों से हस्तलिखित ग्रन्थ तथा तालपत्र के ग्रंथ लेकर असम, नेपाल तथा तिब्बत भाग गये थे। वैसे भारत से कुछ पोथियां तथा तालपत्र ईसा की सातवीं शताब्दी से ही तिब्बत में पहुंचते रहे। इसका उल्लेख तिब्बती सम्राट “श्रांग-वत्सन साम-सो” के राजदरबार के दस्तावेज में हुआ है जो 630-693 ई० काल का है। परन्तु मुसलिम आक्रमणों के बाद भारतीय ग्रंथों का भारत से तिब्बत ले जाया जाना ईसा की नौवीं सदी से तेरहवीं सदी तक चलता रहा। ग्रंथों की इस महाराशि में बौद्ध ग्रंथ तो हैं ही, हिन्दू और जैन ग्रंथ भी पुष्कल मात्रा में हैं। ये ग्रंथ संस्कृत और पालि भाषा में हैं। इनके हजारों ग्रंथों का भोट भाषा में अनुवाद होता रहा। ऐसे अनेक बौद्ध ग्रंथ जो भारत में नष्ट हो गये या खो गये थे, वे तिब्बत में लामाओं के मठों में सुरक्षित हैं। “कंजूर और तंजूर” में दस हजार दुर्लभ प्राचीन भारतीय ग्रंथ सुरक्षित बताये जाते हैं।

### 11. राहुल जी की तिब्बत-यात्रा

राहुल जी के मन में यह बराबर लालसा उठने लगी कि मैं तिब्बत जाकर वहां से दुर्लभ बौद्ध ग्रंथ भारत लाऊं। परन्तु 1928 ई० के काल में भारत से तिब्बत जाना सरल नहीं था। वहां भी ब्रिटिश-शासन था और बाहर के लोगों को वहां जाना वर्जित था। परन्तु पक्की लगन का फल अच्छा होता ही है। राहुल जी एक बार नहीं, चार बार 1929, 1934, 1936 तथा 1938 में तिब्बत गये।

शिवरात्रि फालगुन कृष्ण 13 को भारत के हिन्दुओं के लिए छूट रहती थी। उस दिन वे काठमांडो स्थित पशुपतिनाथ के दर्शनार्थ जा सकते थे। राहुल जी

ने इसी अवसर का लाभ उठाया और वे रक्सौल तथा अमलेखगंज होते हुए काठमांडो पहुंचे। वे वहां के महाबौद्ध स्तूप में 'डुक-पा' लामा से मिले। राहुल जी ने लद्दाख के 'हेमिस' लामा से अपने विषय में एक अनुशंसा पत्र पहले से प्राप्त कर लिया था। उसके सहारे वे 'डुक-पा' लामा के भिक्षु-समाज में मिल गये। वे तिब्बती भ्रमणशील व्यापारियों के साथ मिलकर तिब्बत के लिए प्रस्थान कर दिये। परन्तु एक कठिनाई थी तिब्बत की सीमा में प्रवेश करना। उसके लिए चाहिए था 'लाम-चिक' अर्थात् सीमा पार करने का अनुमति-पत्र।

राहुल जी का एक मंगोल-भिक्षु से बोध-गया में परिचय हो गया था, संयोग से वह वहां मिल गया। अतएव उसके सहारे उन्हें अनुमति-पत्र मिल गया। राहुल जी ने उस मंगोल भिक्षु का भारी बोझा भी अपने ऊपर लाद लिया और उसके साथ चल दिये। वहां का रास्ता खतरनाक था। रास्ते में डाकू होते थे। वे पथिक की हत्या करके पीछे उनके माल लूटते थे। जब राहुल जी किसी को डाकू-जैसा देखते, तब वे अपनी टोपी उतारकर, जीभ निकालकर और हाथ फैलाकर 'कुची-कुची' (दया करो) कहते थे। अनेक व्यापारी लामा एवं भिक्षु (साधु) का वेष पहनकर कीमती चीजें ले जाते थे, इसलिए डाकू भिक्षुओं और लामाओं पर भी हमला करते थे।

राहुल जी कोसी नदी का बर्फीला पानी पारकर आगे बढ़े। आगे उनका सामान ढोने के लिए गधे मिल गये। फिर वे एक टट्टू पर सवार होकर ब्रह्मपुत्र के किनारे-किनारे नारथाङ् तक पहुंचे। नारथाङ् में एक मठ था जहां ग्यारहवीं सदी के 338 ग्रंथ थे। प्रायः भारतीय ग्रंथों के तिब्बती भाषा में अनुवाद थे। राहुल जी आगे बढ़ते रहे। वे शिगाचें, डिक, थोमों, जराला दर्रा, नगाचे डांडे-खाम-वाला होकर छू-ओरी में एक नौका द्वारा ब्रह्मपुत्र पार करके एक टट्टू पर बैठकर तिब्बत की राजधानी ल्हासा पहुंचे। 19 जुलाई 1929 ई० का समय था। उन्हें दूर से ही पोटाला मठ की सुनहरी छत दिखाई दी। वहां धर्मा साहु नाम के नेपाली रहते थे, जिनसे राहुल जी का परिचय नेपाल में ही हो गया। वे उनके घर पर जाकर उनसे मिले और उन्होंने उनका स्वागत किया।

राहुल जी चाहते थे कि वे समसामयिक दलाई लामा से मिलें। उन्होंने 151 छंदों का संस्कृत भाषा में एक पद रचा और उसका भोट भाषा में अनुवाद कर दलाई लामा के एक शिष्य के हाथों उनसे पास भेजवाया। कहा जाता है कि दलाई लामा उसे पढ़कर प्रसन्न हुआ और कहा कि इस छंद के रचयिता को समय से अपने पास आने की अनुमति दूंगा। परंतु उसके पास से राहुल जी को मिलने के लिए कभी अनुमति नहीं मिली।

राहुल जी वहां के देपुंग-गुंबा नामक जगह में गये जहां अनेक देशों के सात हजार भिक्षु छात्रावासों में रहते थे। परंतु भारत के लोगों का कोई



छात्रावास नहीं था। उस समय भारत में बौद्ध मत का प्रचार ही शून्य था। राहुल जी ने तिब्बत में कागज के छोटे-छोटे पर्चे पर 16,000 भोट भाषा के शब्दों का संग्रह करके उनका नेपाली तथा संस्कृत में अर्थ किया। वे तिब्बत में तीन वर्षों तक रहना चाहते थे जिससे प्राप्त बौद्ध ग्रंथों का अध्ययन और शोध कर सकें। परन्तु उनके सामने मुख्य कठिनाई धन की थी। काशी विद्यापीठ के आचार्य नरेन्द्र देव ने पचास रुपये मासिक भेजने की व्यवस्था की थी। इसके अतिरिक्त श्रीलंका से भदंत आनंद कौसल्यायन तीन हजार रुपये भेजवाये जिससे राहुल जी दुर्लभ पुस्तकें खरीद सकें। परन्तु इतना धन उनके लिए पर्याप्त नहीं था।

राहुल जी 'साम-ये' के प्राचीनतम महाविहार को देखने गये। यहां नालंदा के प्रसिद्ध भिक्षु शांतिरक्षित का शव सुरक्षित रखा गया था, परन्तु यह खंडहर रूप में था। वहां एक जगह 'गे-गर-लिंग' है जिसका अर्थ है 'भारतीय द्वीप'। यहां पर ग्यारहवीं सदी में भारतीय विद्वान रहते थे और भारत के संस्कृत ग्रंथ तिब्बती में अनुवाद करते थे। इस मठ की दशा भी बहुत बुरी थी। यहां एक बड़ा ग्रंथालय था उसमें ऐसे दुर्लभ ग्रंथ थे जो भारत के विक्रमशिला में भी नहीं थे। परन्तु यह वर्षों पहले जलकर राख हो चुका था।

इसके बावजूद भी राहुल जी ने पुराने ग्रंथों को इकट्ठा करने में अथक प्रयत्न किया। कुछ ग्रंथ और चित्र खरीदे तथा कुछ उन्हें भेंट स्वरूप मिले। इस प्रकार उन्होंने तिब्बती भाषा में 1619 हस्तलिखित ग्रंथ तथा दुर्लभ चित्र अठारह टट्टुओं पर लादकर लौटे। उन्हें ल्हासा से कालिपोंग तक 39 दिन लगे। वे 24 अप्रैल को ल्हासा से चले और कालिपोंग 3 जून 1930 ई० को पहुंचे। इसके बाद वे उसे बड़े श्रम से भारत में लाकर बिहार की राजधानी पटना के म्यूजियम में समर्पित कर दिये।

उक्त संग्रह में धर्म, दर्शन, इतिहास, जीवनी, कला, ज्योतिष, चिकित्सा, भूगोल आदि अनेक विषयों पर साहित्य हैं। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान नागार्जुन और असंग की माध्यमिक शाखा तथा योगाचार शाखा पर दुर्लभ ग्रंथ हैं। इतना ही नहीं, क्रियातंत्र, चर्यातंत्र, योगतंत्र, दंडी के काव्यादर्श पर 'ल्हा-पा' की दो टीकाएं, कल्पलता के दो तिब्बती अनुवाद, पाणिनी धातु-पाठ पर दुर्गासिंह का भाष्य आदि ग्रंथ हैं। इस ग्रंथ-राशि में एक ग्रंथ ऐसा भी है जिसमें मुसलिम आक्रमण द्वारा विक्रमशिला विश्वविद्यालय का महाविनाश का वर्णन है। इस संग्रह में बौद्ध महायान और वज्रयान की देवमाला संबंधी 137 चित्रपट भी हैं। राहुल जी ने तिब्बती भाषा का व्याकरण तथा तीन बालपोथियां नागरी लिपि में लिखीं। वे प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान धर्मकीर्ति (600 ई०) का प्रसिद्ध ग्रंथ 'प्रमाण वार्तिक' वृत्ति लाये। उन्होंने उसे तिब्बती से पुनः संस्कृत में किया। यह ग्रंथ

मूल संस्कृत में ही लिखा गया था। उन्होंने एक तिब्बती-हिन्दी कोश भी तैयार किया। जिसका पहला खण्ड साहित्य अकादमी ने उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित किया।

## 12. अन्य देशों का भ्रमण

राहुल जी तिब्बत से भारत लौटकर 1930 ई० में ही पुनः श्रीलंका गये। वहां से भारत लौटकर 1931 ई० के चलने वाले सत्याग्रह में भाग लिये। वे तीसरी बार पुनः 1931-32 ई० में श्रीलंका में रहकर आये। वे 1932-33 ई० में यूरोप गये और इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी के प्राच्य-विद्या विशारदों से मिले। 1935 ई० में उन्होंने जापान, कोरिया और मंचूरिया में प्रवास किया। वे मंचूरिया में 29 अगस्त, 1935 ई० में ट्रेन पर बैठे और सात दिनों तक रेलगाड़ी की यात्रा करते हुए रूस की महानगरी मास्को पहुंचे। उन्होंने 4 से 21 सितम्बर तक मास्को में निवास किया। वे प्रसिद्ध विद्वान ओल्डेनबर्ग तथा श्चेर्बास्की से मिलना चाहते थे परन्तु तब तक ओल्डेनबर्ग तो मर चुके थे और श्चेर्बास्की लेनिनग्राद में रहते थे। राहुल जी को वहां जाने की अनुमति न मिलने से वे उनसे भी नहीं मिल सके।

राहुल जी मास्को से बाकू गये। उन्होंने वहां अग्नि-मंदिर देखा, जिसे उन्होंने अपनी भाषा में 'ज्वालामाई' कहा। वहां से जल-जहाज से ईरान जाकर उन्होंने तेहरान, शीराज, मर्शद और बलूचिस्तान का भ्रमण किया। फिर ट्रेन द्वारा लाहौर आ गये। इसके बाद वे विषम-ज्वर से अस्वस्थ हो गये और पटना के एक चिकित्सालय में पांच दिनों तक अचेत रहे। फिर स्वस्थ हुए।

## 13. सोवियत रूस में दूसरा विवाह

राहुल जी 1937 ई० में ईरान तथा 1937-38 ई० में पुनः सोवियत रूस गये। अब की बार वे सोवियत अकादमी के निमंत्रण पर गये थे। वे मास्को से लेनिनग्राद गये और 17 नवम्बर, 1937 ई० से 13 जनवरी, 1938 ई० तक वहीं रहे। लोला नाम की एक मंगोलियन महिला थी। जो भारतीय-तिब्बती विभाग की सचिव थी। वे उस समय संस्कृत-तिब्बती कोश बना रही थीं। वे फ्रांसीसी, अंग्रेजी, रूसी और मंगोलियन भाषाएं जानती थीं। राहुल जी की उनसे भेंट हुई और दोनों की मित्रता हो गयी। राहुल जी उन्हें संस्कृत पढ़ाने लगे और वे राहुल जी को रूसी पढ़ाने लगीं। दोनों की मैत्री पारस्परिक मोह और फिर विवाह में बदल गयी। राहुल जी द्वारा लोला को 5 सितम्बर 1938 ई० में एक पुत्र पैदा हुआ जिसका नाम 'इगोर' रखा गया। भारत वापस आ जाने के कारण राहुल जी उसे देख न सके। जब वे पुनः 1945 ई० में सोवियत रूस गये तब देख सके। 17 अगस्त 1947 ई० को रूस छोड़ देने के बाद राहुल जी अपने

पुत्र को कभी नहीं देख सके। 1962 ई० में राहुल जी को जब विस्मृति का रोग हुआ तब जब वे चिकित्सा के लिए सोवियत रूस ले जाये गये, तब उनकी पत्नी लोला उन्हें देखने आयीं, परन्तु विस्मृति के कारण कोई परस्पर बात नहीं हो सकी। उस समय राहुल जी के नेत्रों से केवल आंसू बह रहे थे। लोला और इगोर माता-पुत्र न कभी भारत आये और न वे हिन्दी जानते थे।

#### 14. पुनः राजनीतिक अभियान

राहुल जी 1939 ई० में किसान-संघर्ष में लग गये। उनको जेल जाना पड़ा। उन्होंने जेलखाने के सुधार के लिए 10 और 17 दिनों के दो अनशन व्रत किये। कुछ महीने के बाद उन्हें जेल से छोड़ दिया गया। इसके बाद वे 24-25 फरवरी 1940 ई० में मोतिहारी किसान सम्मेलन के अध्यक्ष बने। इसके बाद वे पुनः पकड़कर जेल में डाल दिये गये और वे 1940-42 ई० के बीच करीब 29 महीने हजारीबाग और देवली जेल में बंद रहे।

#### 15. दर्शन दिग्दर्शन की रचना

इसी 29 महीने के लंबे कारावास में राहुल जी ने दर्शन पर अपना सर्वोच्च ग्रंथ 'दर्शन दिग्दर्शन' लिखा जिसमें यूनानी दर्शन, यूरोपीय दर्शन, इस्लामी दर्शन तथा भारतीय दर्शनों का सरल वर्णन है। यह लगभग साढ़े आठ सौ पृष्ठों का ग्रंथ हिन्दी भाषा में अद्वितीय है। इसमें मार्क्सवादी दृष्टिकोण से समीक्षा की गयी है।

जब वे जेल से छूटे तब उन्होंने अपने जन्म स्थान की यात्रा की। उनके बचपन में उनका एक विवाह हो चुका था। उसका गौना आने के पहले ही राहुल जी घर से भाग निकले थे। वह महिला बेचारी घर में बैठी थी और राहुल जी से मिलने आयी। परन्तु वे वहां रुके नहीं। उनका राजनैतिक और साहित्यिक क्षेत्र में निरंतर श्रम चलता रहा। उनकी राजनीति कांग्रेस-माध्यम से मुड़कर कम्युनिज्म-माध्यम से चलने लगी। वे 1939 ई० में मुंगेर में कम्युनिष्ट पार्टी के सदस्य बने। परन्तु जनवरी 1948 ई० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन बम्बई में अध्यक्षीय भाषण देने से भारतीय कम्युनिष्ट पार्टी ने उन्हें पार्टी से निकाल दिया। साहित्य में वे संस्कृति, नृवंशशास्त्र, समाज विज्ञान, अर्थशास्त्र, भाषाशास्त्र, यात्रा, भूगोल-भूस्तर की बातें, राजनीति, पुरातत्त्व, धर्म, इतिहास, मत-पंथ आदि को लेकर सरल प्रवाह में लिखते रहे।

#### 16. बुढ़ापा में पुनर्विवाह और दुखद अंत

राहुल जी 1948 ई० के बाद भारत में ही रहे। अपवादस्वरूप वे केवल एक बार चीन गये तथा एक बार बौद्ध दर्शन पढ़ाने श्रीलंका बुलाये गये। परन्तु वहां वे बीमार पड़ गये। बीमारी दशा में 1962 ई० में चिकित्सा के लिए रूस ले जाये गये, परन्तु अच्छा फल न निकलने से पुनः भारत लाये गये।

रूस में उस समय जबकि अत्यंत तानाशाह स्तालिन का शासन था, राहुल जी अपनी पत्नी लोला और पुत्र इगोर को भारत न ला सके। प्रथम विवाहिता पत्नी गांव की थी उससे उनका लगाव नहीं था। अतएव उन्होंने अपनी साठ वर्ष की उम्र के लगभग एक नेपाली युवती से विवाह किया जिसका नाम कमला पेरियार था और वह मूल भारतीय थी, जिसको विवाह बाद डॉ० कमला सांकृत्यायन कहा जाता रहा। राहुल जी अपनी नववधू के साथ कई वर्ष मंसूरी में बिताये। इसी क्रम में उनकी पत्नी को जया पुत्री और जेता पुत्र पैदा हुए।

राहुल जी श्रीलंका के विद्यालंकार विश्वविद्यालय के बौद्ध दर्शन के प्रोफेसर थे, अतएव श्रीलंका से उनका बुलावा आया। वे श्रीलंका गये, परंतु कुछ दिनों में उन्हें मधुमेह, उच्च रक्तचाप तथा हृदय-विकार के रोग एक साथ घेर लिये। उनको विस्मृति का रोग हो गया। इतना बड़ा विद्वान अपना नाम तक नहीं पढ़ पाता था और न ठीक से बोल पाता था। अति परिश्रम और पारिवारिक चिन्ता ने उन्हें सब प्रकार से शक्तिहृत कर दिया। प्रसिद्ध विद्वान निराला के अंतिम वर्ष ऐसे बीते थे तथा 'काजी नजरूल इसलाम' अपने जीवन के अंतिम पूरे चौतीस वर्ष इसी प्रकार से पीड़ित रहे। "राहुल जी ने बहुत अधिक उम्र में विवाह किया और अपने बच्चों के भविष्य की चिन्ता उन्हें शायद भीतर-भीतर कुतरती रही। वे अपनी अर्धमूक अवस्था में बुदबुदाते रहते थे—“दो बच्चे-तीन बच्चे”। हो सकता है उनके शरीर ने उनके मन का साथ नहीं दिया, और इसी भुलावे में अपने आपको डाले रहे कि औषधियों के सहारे शरीर को जवानी जैसे ही सक्रिय रखा जा सकता है।”<sup>1</sup>

ऊपर वर्णन आ चुका है कि वे 1962 ई० में सोवियत रूस ले जाये गये, परंतु सफलता न मिली और पुनः भारत लाये गये। तथा उसी बीमारी की दयनीय दशा में दार्जिलिंग में 1963 ई० में उनकी मृत्यु हो गयी। वहां उनका अंतिम संस्कार हुआ तथा एक छोटी-सी राहुल-स्मृति बनायी गयी।

### 17. उपसंहार

राहुल जी उत्तर प्रदेश आजमगढ़ जिले के एक गांव में एक गरीब किसान ब्राह्मण यहां जन्म लेकर थोड़ी पढ़ाई के बाद अपने कैशोर से ही घर छोड़कर इधर-उधर भागते रहे और अपने निरंतर श्रम से उन्होंने लगभग तैंतीस भाषाएं सीखीं, देश-विदेश का भ्रमण किया, विदेश से सैकड़ों भारतीय साहित्य लाये, देशभक्ति में अनेकों बार जेल गये, अनेक विषयों पर लगभग डेढ़ सौ ग्रंथ लिखे, सोवियत रूस लेनिनग्राद में तथा श्रीलंका में संस्कृत अध्यापक तथा दर्शन के प्रोफेसर रहे। उन्होंने काशी की पंडित-सभा से महापंडित की, श्रीलंका

1. राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ 27, प्रभाकर माचवे।

विद्यालंकार परिवेण से त्रिपिटकाचार्य की, हिन्दी साहित्य सम्मेलन इलाहाबाद से साहित्य वाचस्पति की, भागलपुर विश्वविद्यालय भागलपुर तथा विद्यालंकार विश्वविद्यालय श्रीलंका से डी० लिट० की और भारत सरकार से पद्मभूषण की उपाधियां पायीं।

इतना ही नहीं, वे केदारनाथ पांडे से वैष्णव रामउदारदास बने, फिर आर्य समाजी और उसके बाद बौद्ध भिक्षु राहुल सांकृत्यायन और कांग्रेसी से कट्टर कम्युनिष्ट तथा भौतिकवादी भी। उन्हें भक्ष्याभक्ष्य का अधिक विचार नहीं था, परंतु पेय-अपेय पर विचार था। वे अपनी तरुणाई में गंजेड़ी साधुओं के साथ गांजा पीये थे, परंतु फिर छोड़ दिये। उन्हें सिगरेट पीने की आदत हो गयी थी, परन्तु उसे सन् 1948 ई० से छोड़ दिये। उन्होंने अपने जीवन में शराब का स्पर्श तक नहीं किया। वे छह फिट लंबे, गोरे, चौड़े माथा के, सशक्त तथा दृढ़ मन वाले थे।

उनका एक विवाह तो उनके अबोधपन में हुआ था। साधुवेष में होने के बाद जब कम्युनिष्ट तथा भौतिकवादी हुए तब उन्होंने दूसरा विवाह रूस में किया और तीसरा बुढ़ापा में भारत में। उन्होंने अपने परम श्रद्धेय महात्मा बुद्ध को भी शीर्षासन करने वाला, अर्थात् उलटा-पथ चलने वाला कह डाला। इन पंक्तियों के लेखक से सारनाथ, वाराणसी के महाबोधि विद्यालय के प्राचार्य भिक्षु धर्मरक्षित ने सन् 1971 ई० में बताया था कि राहुल अंत में पुनः धर्म में रुचि लेने लगे थे। परन्तु तब वे अस्वस्थता के कारण कुछ करने योग्य नहीं रह गये थे।

राहुल जी यूनानी, इसलामी, यूरोपीय तथा भारतीय दर्शनों के तो विद्वान थे ही, बौद्ध दर्शन के प्रकांड पंडित थे। “प्रसिद्ध रूसी दार्शनिक बौद्ध-न्याय शास्त्र के लेखक प्रोफेसर श्चेर्बास्की ने लेनिनग्राद विश्वविद्यालय में अपनी स्मृतियों में लिखा कि उनके बाद इस विषय को साधिकार पढ़ाने वाला एक ही व्यक्ति सारे विश्व में है और वह है राहुल सांकृत्यायन। बौद्ध विद्वान के नाते उन्हें सोवियत रूस में बुलाया गया। वे लेनिनग्राद विश्वविद्यालय में प्रोफेसर बने। जीवन के संध्याकाल में, श्रीलंका विद्यालंकार विश्वविद्यालय में वे ससम्मान प्राध्यापक बनाकर बुलाये गये। पर भारत में किसी विश्वविद्यालय में उन्हें पढ़ाने की अनुमति नहीं दी गयी, न उन्हें आमंत्रित किया गया, क्योंकि उनके पास कोई औपचारिक उपाधि नहीं थी। हमारी शिक्षा पद्धति की नौकरशाही कितनी जकड़बंद की है, इस पर इससे अधिक दुखद टिप्पणी क्या हो सकती है।”<sup>1</sup>

राहुल जी भाषण देने में कुशल नहीं थे, किन्तु लेखन में अत्यन्त प्रवीण थे। उन्होंने अपनी लेखनी से विश्व को ज्ञान की अपार राशि दी है। उन्होंने अपने

1. राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ 211।

जीवन में आध्यात्मिक उन्नति नहीं की, यह उन्हीं की नहीं, अधिकतम विद्वानों की कम-वेश यही दशा है। कितने धार्मिक नामधारी भी मन की भ्रांति में ही अंत तक रह जाते हैं। इस भयंकर भूल से हमें सावधान होना चाहिए। आध्यात्मिक उन्नति अर्थात् आत्मज्ञान, आत्मशोधन, आत्मसंतोष और पूर्ण निर्भयता जीवन का सच्चा फल है।

---



# संत लाओत्जे

---

लेखक—देवेन्द्र





## 30. संत लाओत्जे

पुराने संतों की प्रामाणिक जीवनियां नहीं मिलतीं। भारतवर्ष की ही बात नहीं है, दुनिया के इतिहास में लगभग सब जगह ऐसा ही है। जिस समय प्राचीन भारत में स्वामी महावीर तथा तथागत बुद्ध की जोड़ी अध्यात्म के प्रचार-प्रसार में लगी हुई थी, लगभग उसी समय पड़ोसी राष्ट्र चीन में दो महत्वपूर्ण संत हुए—लाओत्जे एवं कनफ्यूशियस। प्रारंभ में दोनों ही प्रशासनिक अधिकारी थे, फिर प्रशासनिक कार्यों से स्वैच्छिक निवृत्ति लेकर स्वतंत्र हो गये। लाओत्जे कनफ्यूशियस से ज्येष्ठ थे, कितना ज्येष्ठ थे निश्चित तौर पर कहा नहीं जा सकता। कुछ इतिहासकार लगभग पचास वर्ष, तो कुछ बीस वर्ष ज्येष्ठ बताते हैं। कनफ्यूशियस सामाजिक सुधार एवं जनकल्याण में आजीवन लगे रहे, जबकि लाओत्जे दुनिया से उदास रहते थे। उनकी लौकिक चीजों में जरा भी रुचि न थी। अतः वे एकान्तवास में रहने लगे। वे प्रखर वैराग्यवान, संसार से उदासीन, आत्मभाव में जाग्रत संत पुरुष थे। उनमें सब कुछ को झाड़-फटकार कर चल देने वाली फक्कड़ाना मस्ती एवं निर्भयता बरबस ही भारतीय संत शिरोमणि कबीर की याद दिलाती है। उनकी वाणियों का दो टूक स्वर, उनमें उलटवासियों की गुत्थियां, उनमें छिपे वैज्ञानिक चिंतन के तत्त्व एवं एक स्वतंत्र चिंतन की सुगंध उनको आज ढाई हजार वर्ष बाद भी आकर्षण का केन्द्र बनाये हुए है। यहां उनका जीवन परिचय और उनकी वाणी 'ताओ ते चिंग' पर विनम्र निवेदन प्रस्तुत है।

### 1. जन्म और जीवन

लाओत्जे के जन्म और जीवन के संबंध में इतिहास और किंवदंतियों की मिली-जुली जानकारी इस प्रकार है। उनका जन्म चीन के हेनान प्रांत में हुआ जो उत्तरी चीन में पड़ता है। कब हुआ, इस पर थोड़ा मतभेद है। कुछ के अनुसार उनका जन्म 604 ई० पूर्व में हुआ, तो अन्य के अनुसार 571 ई० पूर्व। वैसे ज्यादा प्रामाणिक 604 ई० पूर्व का है। ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व हुए चीन के प्रसिद्ध इतिहासकार 'सिज-मा-सियेन' ने भी उनका जन्म 604 ई० पूर्व माना है। इसी हेनान प्रांत से एक और महान साधक का संबंध है जिनसे भारतीय जनमानस सुपरिचित है, वे हैं 'ह्वेनसांग' प्रसिद्ध चीनी बौद्ध भिक्षु-यात्री जो महाराज हर्षवर्धन के काल में भारत आये थे और यहां लगभग 15 वर्ष

रहकर विद्या अध्ययन किये थे, वे भी हेनान प्रांत के निवासी थे।<sup>1</sup>

जहां तक लाओत्जे की बात है, लाओत्जे, वह नाम जिससे उन्हें जाना जाता है, वस्तुतः उनका व्यक्तिगत नाम नहीं है। यह तो उनका उपनाम है, लोगों के प्रेम और सम्मान का प्रतीक। चीन में नाम के अंत में 'त्जु' या 'त्जे' शब्द का जुड़ना सम्मान का प्रतीक है। उनका पारिवारिक नाम 'ली' था जो चीन में बहुधा प्रचलित है। 'लाओत्जे' नाम के चार अर्थ बताये जाते हैं, इससे कुछ मनोरंजक किंवदंतियां भी जुड़ी हुई हैं—

1. वृद्ध बालक। वह बालक जो बचपन से ही परिपक्व बुद्धि का हो। कहते हैं, लाओत्जे जब पैदा हुए तो उनके सफेद दाढ़ी थी। यह केवल किंवदंती है।
2. लाओ से उत्पन्न। कहते हैं, 'लाओ' नामक कुंवारी कन्या को एक रात्रि, आकाश में टूटते हुए तारे को देखकर गर्भ ठहर गया। समय आने पर उसने एक पुत्र को जन्म दिया। लाओ से उत्पन्न होने के कारण उसके पुत्र का नाम लाओत्जे पड़ा।<sup>2</sup>
3. वृद्ध दार्शनिक। परिपक्व उम्र में जब उन्होंने 'ताओ-ते-चिंग' जैसी अमर कृति की रचना की; कहते हैं, कनफ्यूशियस जब लाओत्जे से मुलाकात कर वापस गये तो उन्होंने अपने अनुयायियों के बीच लाओत्जे की चर्चा लाओत्जे-द ओल्ड फिलॉसफर कहकर की।
4. बड़े कान वाला। सम्भवतः उनके कान आम आदमियों की तुलना में बड़े थे। वैसे बड़े कान का होना शुभ व्यक्तित्व का लक्षण माना जाता है।<sup>3</sup> विल्हम आदि विचारकों का मत है कि उनके बड़े कान के नाते ही उनका नाम 'बड़े कानों वाला ली' पड़ा।

युवावस्था में लाओत्जे अपनी योग्यता एवं ज्ञान के लिए पूरे प्रांत में प्रसिद्ध थे। वहां के सम्राट ने उन्हें प्रांतीय राजधानी-चाऊ बुलाया और उनकी योग्यता को परखकर एवं उनकी विद्वता का उपयोग करने के लिए उन्हें अपने अभिलेखागार का प्रमुख नियुक्त किया। जिसका काम था सम्राट को विशेष आवश्यकता पड़ने पर सूचना एवं मंत्रणा देना जैसे कि युद्ध-संधिकाल में, विद्रोह-अव्यवस्था को ठीक करने हेतु, तथा न्याय कार्य में भी। अभिलेखागार में कार्यरत रहते हुए उन्होंने चीन के पुराने संत महापुरुषों द्वारा रचित ग्रंथों, वहां के इतिहास, संस्कृति, दर्शन आदि विषयों का विशद अध्ययन किया।

- 
1. मेरी और ह्वेन सां की डायरी, श्री अभिलाष साहेब, कबीर पारख संस्थान, इलाहाबाद से प्रकाशित।
  2. पुरुष-संबंध के बिना स्त्री को गर्भ नहीं ठहर सकता।
  3. The Sayings of Lao Tzu by Lionel Giles. Published in London, 1950.

अपनी प्रौढ़ावस्था तक उन्होंने शासन कार्य में सहयोग दिया, तत्पश्चात उन्होंने राजकीय कार्यों से अवकाश ले लिया। सम्भवतः वे नब्बे वर्ष से भी अधिक दिनों तक जिये। इस बीच सम्राट ने कई बार चाहा कि लाओत्जे पुनः उन्हें प्रशासन में सहयोग करें किन्तु वे राजधानी छोड़कर गायब जैसे हो गये और वापस न लौटे।

एक छोटी सी कहानी है। लाओत्जे एक सरोवर के तट पर बैठे हुए थे। सरोवर के जल में कई कछुए एक साथ खेल रहे थे। वे कभी किनारे रेत तक आते, विश्राम करते, पुनः सरोवर में लौट जाते। लाओत्जे उनकी जल-क्रीड़ा देखने में तल्लीन थे, तभी सम्राट का मंत्री उन्हें ढूँढता हुआ वहां आ पहुंचा। उसने उनसे पूछा, आप सम्राट की बात मानकर उनका प्रमुख सलाहकार बनना स्वीकार क्यों नहीं कर लेते? आप यह निमंत्रण बार-बार क्यों ठुकरा देते हैं? इस बार सम्राट ने मुझे खास हिदायत देकर भेजा है कि आपको लेकर ही राज-दरबार आऊं। आप कृपया सम्राट का प्रस्ताव स्वीकार कर लें। लाओत्जे सरोवर की ओर एकटक देखते रहे। कुछ देर चुप रहकर उन्होंने मंत्री से कहा—‘आप इन कछुओं का आनंद देख रहे हैं! कितनी स्वतंत्रता से ये सब विचरण कर रहे हैं। आप इनमें से किसी एक कछुए को राजदरबार में चलने के लिए राजी कर लें। यदि आप एक भी कछुए को अपने साथ चलने के लिए राजी कर लेंगे तो मैं भी आपके साथ चल दूंगा।’

मंत्री उनकी बात समझ गया। वह मुंह नीचा कर वहां से चल दिया। सच है ‘संतन को कहा सीकरी से काम’। कहते हैं कविकुल भूषण गोस्वामी तुलसी दास जी को मुगल सम्राट अकबर ने अपनी राजधानी फतेहपुर सीकरी आने के लिए आमंत्रण भेजा किन्तु बाबा गये नहीं। वे समझते थे कि हम भक्तों का बादशाह से क्या प्रयोजन?

लाओत्जे की अवस्था लगभग नब्बे वर्ष की हो रही थी। उन्होंने अपने को कभी भी प्रमुखता से प्रकट नहीं किया, किन्तु उनकी सुकीर्ति फैल रही थी, लोग उनके दर्शन के लिए आते। एक छोटा सा शिष्य-समूह भी उनके चारों ओर एकत्रित हो ही गया था। ऐसे में एक बार कनफ्यूशियस उनसे मिलने के लिए उनकी कुटिया में पधारे।

## 2. लाओत्जे-कनफ्यूशियस सम्मिलन

कनफ्यूशियस (551-478 ई० पूर्व) नीतिवादी समाज सुधारक थे। उनके नाम की प्रसिद्धि उनके जीवन काल में ही व्यापक रूप से फैल गयी थी। पुराने संत उनके आदर्श थे। वे उनकी शिक्षाओं को सभी प्रकार की सामाजिक व्याधियों के लिए रामबाण मानते थे। वे अपने को ‘पुरातन विचारों का प्रेषक, प्रेमी और उन पर निष्ठा रखने वाला न कि सर्जक’ मानते थे। पुराने संतों की

शिक्षाओं को लागू करने के लिए वे युवावस्था से ही राजाओं से मिलते रहते और उन्हें प्रेरित करते। वे प्रभावशाली थे, विद्वान थे, उनके शिष्य-अनुगामी भी बहुत थे। वे समाज के उच्च कहे जाने वाले सम्भ्रांत परिवार से आये थे। जब कि लाओत्ज़े दूसरी समझ के व्यक्ति थे। राजकाज में लम्बे समय तक जुड़े रहकर वे जान गये थे कि सम्राटों की जनता के कल्याण में कोई रुचि नहीं है। वे तो सिर्फ सत्ता एवं समृद्धि के भूखे हैं, राज्यविस्तार ही उन्हें आनंद देता है। वे जनता से अधिक टैक्स वसूलते हैं और उसे डराकर रखते हैं। साधारण जनता भी अपने स्वार्थों को लेकर आपस में बंटी हुई है। ऐसे वातावरण में वे शांत रहना ही श्रेयष्कर समझते थे। कनफ्यूशियस के उद्देश्यों एवं आदर्शों में उनकी विशेष रुचि न थी। अतः संक्षिप्त बातचीत हुई जिसका भाव आगे दिया जा रहा है।

कनफ्यूशियस का लाओत्ज़े से मिलने के लिए जाना एक ऐतिहासिक घटना है। अनेक ग्रंथकारों ने इस प्रसंग को बढ़ा-चढ़ाकर लिखा है। कनफ्यूशियस के ग्रंथ 'एनालेक्ट्स' में इस मिलन का संकेत है। 517 ई० पूर्व में यह मुलाकात हुई जब कनफ्यूशियस का चाऊ प्रांत में आगमन हुआ। कनफ्यूशियस उस समय 35 वर्ष के युवा थे, जबकि लाओत्ज़े 88 वर्ष की पकी उम्र के थे। कनफ्यूशियस ने विनय पूर्वक उनसे कुछ सुनना चाहा। लाओत्ज़े ने कहा, "वे महापुरुष जिनकी चर्चा तुम करते हो, मर चुके हैं और उनकी हड्डियां गलकर मिट्टी में मिल चुकी हैं, मात्र उनके शब्द रह गये हैं। और यह कि जब श्रेष्ठ मनुष्य को अवसर मिलता है वह ऊंचा उठ जाता है; किन्तु जब परिस्थितियां उसके अनुकूल नहीं होतीं, वह समय को देखकर उसके अनुसार चलता है। मैंने एक धनी व्यापारी के विषय में सुना है जिसके पास धन का विशाल भंडार सुरक्षित है, तो भी वह साधारण ढंग से रहता है; और यह भी कि श्रेष्ठ मनुष्य, यद्यपि वह सद्गुणों में पूर्ण है, ऊपर से देखने पर साधारण-मूढ़ जान पड़ता है। अपने श्रेष्ठ होने का अहंकार और तमाम इच्छाओं को दूर रखकर, मन की चालाकी और अनियंत्रित इच्छाओं को हटाकर ही काम बनेगा। इन्हें रखकर किसी का लाभ नहीं हो सकता। तुम्हें मैं इतना ही बता सकता हूँ।"<sup>1</sup>

1. Lao Tze said, "The men about whom you talk are dead, and their bones are mouldered to dust; only their words are left. More over, when the superior man gets his opportunity, he mounts aloft; but when the time is against him, he is carried along by the force of circumstances. I have heard that a good merchant, though he have rich treasures safely stored, appears as if he were poor; and that the superior man, though his virtue be complete, is yet to outward seeming stupid. Put away your proud air and many desires, your insinuating habit and wild will. They are of no advantage to you; this is all I have to tell you."

(Page 34, Introduction by James Legge, The Texts of Taoism in The Sacred Books of the East, Vol. XXXIX)

पीछे कनफ्यूशियस ने अपने अनुयायियों के बीच जाकर लाओत्जे की भूरि-भूरि प्रशंसा की। उन्होंने कहा, “पक्षियों का उड़ना, मछलियों का तैरना और पशुओं का दौड़ना, मैं इनसे परिचित हूँ। किन्तु दौड़ने वाले फंस सकते हैं, तैरने वाले बंसी में फंस सकते हैं और उड़ने वाले का तीर से शिकार सम्भव है। किन्तु इनसे भिन्न ड्रैगन होता है। मैं नहीं जानता कि कैसे वह बादलों के सहारे हवा में ऊपर उठकर स्वर्ग तक पहुंच जाता है। आज मैंने लाओत्जे के दर्शन किये और उनकी तुलना सिर्फ ड्रैगन से हो सकती है।”<sup>1</sup> चीन की संस्कृति में ड्रैगन बहुत महत्वपूर्ण है। ड्रैगन सर्प के आकार का पंखवाला काल्पनिक प्राणी है, जिसे शुभ मानकर चीन में पूजा जाता है, जैसे हमारे देश में गणेश जी को पूजा जाता है।

यहां ध्यान देने योग्य है कि विद्वान लेखकों ने कनफ्यूशियस और लाओत्जे को एक दूसरे के विरोध में खड़ा कर दिया है। अनेक बार लाओत्जे की व्याख्या इस ढंग से की जाती है कि वे कनफ्यूशियस के विरोधी जान पड़ते हैं। वस्तुतः ऐसा नहीं है। वैचारिक मतभेद अवश्य हैं किन्तु लाओत्जे का प्रेम स्पष्ट है। उन्होंने कनफ्यूशियस को हित की बात समझायी, भले ही उनका स्वर थोड़ा तेज रहा हो; और कनफ्यूशियस ने अपने शिष्यों के बीच उनकी जो प्रशंसा की वह लाओत्जे के प्रति उनकी श्रद्धा को दर्शाता है। पीछे दोनों के अनुयायियों ने एक दूसरे के प्रति ऐसा कटुतापूर्ण ढंग से लिखा कि वैमनस्य और द्वेष बढ़ता रहा, सौहार्द घटता गया। अनधिकारी लोगों से और आशा भी क्या की जा सकती है!

### 3. लाओत्जे द्वारा ‘ताओ ते चिंग’ की रचना

लाओत्जे स्वभाव से अंतर्मुख थे। उनकी लौकिकता में कोई रुचि न थी। अपनी यश-कीर्ति को उन्होंने कभी महत्व नहीं दिया और अपने को लोगों की नजरों से बचाकर रखा, अपने जीते जी भी और मरने के बाद भी। ईसा से भी पुराने चीन के इतिहासकार ‘सिज-मा-सियेन’ ने लाओत्जे के विषय में लिखा है—He strove towards self-concealment and remaining without name. अर्थात् वे अपने को गुप्त रखने के मार्ग पर चले और अनाम रहे।

लाओत्जे की महिमा नगर में फैल रही थी। उनके मानने वाले बढ़ रहे थे। साथ ही राज्य की व्यवस्था निरंतर बिगड़ती जा रही थी। लाओत्जे उम्र के

1. Confucius said, “I know how birds can fly, fishes swim and animals run. But the runner may be snared, the swimmer hooked, and the flyer shot by the arrow. But there is the dragon: I can not tell you how he mounts on the wind through the clouds, and rises to the heaven. Today I have seen Lao Tze, and can only compare him to the dragon.”(same, page 35)

अंतिम पड़ाव में थे। उनके पीछे उनका सम्प्रदाय चले, इसकी उन्हें तनिक भी चाहना न थी। वे पूर्णतया निवृत्त थे। ऐसे में एक दिन उन्होंने नगर छोड़ने का मन बना लिया। परम्परा से प्राप्त जानकारी के अनुसार एक प्रातःकाल बिना किसी से कुछ कहे काले बैल की पीठ पर सवार होकर (चीन में बैल पर सवारी करने का प्रचलन रहा है) वे चुपचाप निकल पड़े और आगे बढ़ते रहे। नगर की सीमा पार निर्जन प्रदेश में जाने का उनका विचार था। सीमांत क्षेत्र तक पहुंचने में दिन डूब गया। सीमा-प्रहरी लाओत्ज़े का अनुयायी था। जब उसे उनके उद्देश्य की जानकारी हुई तो उसने उन्हें ससम्मान रोक लिया और सम्राट तक सूचना भेज दी। सम्राट ने संदेश भेजा कि लाओत्ज़े अपने विचार लिखकर दे जायें, तभी उन्हें सीमा पार जाने दिया जाये। सीमा-प्रहरी का भी यही आग्रह था।

लाओत्ज़े विवश हो गये। उन्होंने कहा, 'सत्य कहा नहीं जा सकता और जो कहा जा सकता है, वह सत्य नहीं।' यही उनके ग्रंथ के प्रारम्भिक वचन बने। लाओत्ज़े सीमा पर तीन दिन रुके और लगभग पांच हजार चीनी शब्दों में अपने विचार सूत्र रूप में लिख दिये। उन्होंने ग्रन्थ को कोई नाम नहीं दिया। पीछे चीन के ही एक सम्राट ने, जो उनका प्रशंसक था, उनकी वाणी को 'ताओ-ते-चिंग' नाम दिया।

ताओ=नियम।

ते=सद्गुण संपन्न जीवन।

चिंग=पुस्तक।

इस प्रकार 'ताओ ते चिंग' का अर्थ हुआ नियम और सद्गुण संपन्न जीवन की पुस्तक। संक्षेप में कहें तो 'नियम और जीवन की पुस्तक'।

लाओत्ज़े वहां से विदा लेकर सीमा पार निर्जन एवं पर्वतीय प्रदेश में चले गये। फिर कोई जान नहीं पाया कि वे किस दिशा में गये, कहां रहे। उम्र नब्बे से ऊपर थी। चीन में ठंड भी जोरों की पड़ती है। पहाड़ी प्रदेश में उनका शरीर कब, कहां छूटा, कोई जानता नहीं। लेकिन उनके वचन 'ताओ ते चिंग' के रूप में अमर हो गये। एक प्रसिद्ध विचारक का कहना है कि 'ताओ ते चिंग' जैसा छोटा सा धर्मग्रंथ गीता या उपनिषद्, धम्मपद या महावीर वाणी, बाइबिल, कुरान या जिन्दावेस्ता की ही कोटि में आता है। किसी से जरा भी कम हैसियत नहीं है इसकी, और कुछ अर्थों में तो यह अनूठा है।

कुछ विचारकों का यह मानना है कि 'ताओ ते चिंग' के साथ यह सीमा पार जाने वाला प्रसंग जोड़कर उसे चित्ताकर्षक बनाया गया है। उनका मानना है कि लाओत्ज़े ने इसे तीन दिन में पूरा नहीं किया था, वरन यह उनकी

जीवनभर की कमाई है, उनकी परिपाक साधना का परिणाम है। लाओत्जे ने इसे तीन दिन में विवशतावश लिख दिया, यह कथन सुपाच्य नहीं है।

विवेक से विचार करने पर यह तर्क सही समझ में आता है। 'ताओ ते चिंग' को पूरा पढ़ने पर जरा भी नहीं लगता कि यह एक साथ लिखा गया है वरन पूरे ग्रंथ में उनकी बातें बिखरी हुई हैं। भिन्न विषयों पर यत्र-तत्र सूत्र मिलते हैं। पुराने संतों की वाणी तथा उनके कथनों को बहुलता से उद्धृत किया गया है। कोई कारण नहीं है कि इसे तीन दिन का लिखा हुआ माना जाय।

भारतवर्ष में धर्मग्रंथ गीता का बहुत मान है। महाराज श्रीकृष्ण ने युद्ध-भूमि में वीर अर्जुन को इसका उपदेश किया था। पाठक स्वयं सोचें कि युद्ध की परिस्थितियों में, युद्ध के मैदान में क्या निष्काम कर्म योग घटित होता है? युद्ध स्थल सत्संग स्थल कदापि नहीं हो सकता। गीता भावुकता या क्षणिक आवेश में दिया गया बयान नहीं है। यह भारतीय चिंतन की आत्यंतिक ऊंचाई है। इस ग्रंथ की रचना धीरे-धीरे करके अनेक सदियों में हुई है। 'विद्वानों की राय से गीता ईसा पूर्व चौथी शताब्दी की रचना है और महाभारत में रची गयी है..... परन्तु ईसा के चार सौ वर्ष बाद तक इसमें श्लोक जुड़ते रहे।'<sup>1</sup> इस प्रकार गीता का रचना-काल लगभग आठ सौ वर्षों का है। वस्तुतः गीता-लेखक ज्ञानी एवं श्रीकृष्ण के उपासक थे। उन्होंने प्रवक्ता के रूप में श्रीकृष्ण को ही मुख्य पात्र चुना है और उन्हें ईश्वर सिद्ध करने की चेष्टा की। इसी प्रकार, लाओत्जे का यह ग्रंथ उनके जीवन का मधुरस है जो धीरे-धीरे करके उनके जीवनकाल में एकत्रित हुआ जान पड़ता है।

#### 4. 'ताओ ते चिंग' का इतिहास

'ताओ ते चिंग' का मान लाओत्जे से कम नहीं है। इसका अंदाजा इसी बात से लगता है कि विश्व के विद्वान लेखकों ने 'ताओ ते चिंग' पर ज्यादा लिखा है और लाओत्जे के जीवन पर अपेक्षाकृत कम। इस समय 'ताओ ते चिंग' के लगभग सौ से ऊपर अनुवाद यूरोपीय एवं अन्य भाषाओं में उपलब्ध हैं और नित्य नये-नये अनुवाद सामने आ रहे हैं। विज्ञान प्रौद्योगिकी के बढ़ते कदम एवं इंटरनेट की सुविधा ने इस ग्रंथ को चीन के बाहर जनसामान्य के लिए सुलभ बना दिया है।

'ताओ ते चिंग' की विषय-वस्तु जानने से पहले उसके इतिहास पर एक नजर डाल लें। यह ईसा से लगभग 500 वर्ष पूर्व का ग्रंथ है। ईसा पूर्व के

---

1. श्री कृष्ण और गीता, श्री अभिलाष साहेब, कबीर पारख संस्थान, इलाहाबाद से प्रकाशित।



अनेक ग्रंथकारों ने इसे अपने ग्रंथों में उद्धृत किया है। कनफ्यूशियस मतावलम्बियों ने भी इसको मान दिया है। कहते हैं, स्वयं कनफ्यूशियस के ग्रंथ 'एनालेक्ट्स' में इसका एक अध्याय उद्धृत है। इसके अनेक संस्करण मिलते हैं किन्तु सभी संस्करण ईसा पूर्व के हैं, और थोड़े पाठान्तर के साथ मूल स्वर सबका एक समान है। ईसा से दौ सौ वर्ष पूर्व ही यह चीनी भाषा के एक 'क्लासिक'—श्रेष्ठ ग्रंथ के रूप में मान्य हो गया था। राजसत्ता ने भी इसे उपयोगी जानकर इसके पठन-पाठन को प्रोत्साहन दिया। एक सम्राट के बारे में तो कहा जाता है कि अपने दरबार में नियमित रूप से वह 'ताओ ते चिंग' पर चर्चा सुनता था। उस समय उसके मंत्री एवं सहयोगी सभी वहां उपस्थित होते और इस बीच यदि कोई जमुहाई या झपकी लेता, पांव फैलाता या किसी अन्य प्रकार से अपनी अरुचि प्रदर्शित करता तो उसी समय सम्राट द्वारा डांटा जाता। एक दूसरे सम्राट ने अपने मंत्रियों से पूछा कि ताओ का सरकार और प्रशासन चलाने में क्या योगदान हो सकता है? ताओ के मर्मज्ञ ने उन्हें बताया कि ताओ के सहयोग से एक मुर्दा भी शासन को सुचारु रूप से चला सकता है। इसके बारे में एक पुराने संस्करण की भूमिका में, "सभी वस्तुओं का मूल, सम्राटों का गुरु और जनता का सर्वाधिक मूल्यवान रत्न" लिखा मिलता है। निश्चय ही यह सब ग्रंथ की महिमा को दर्शाता है।

चीन में कागज और छपाई अत्यंत प्राचीन हैं। सूखे काठ पर सांचों को उभारकर, पौधों की छाल से बनाये गये कागज पर ग्रंथों को छापकर प्रकाशित किया जाता था। 'ताओ ते चिंग' के अनेक संस्करण इसी प्रकार प्रकाशित हुए थे। चीन के सम्राटों ने आज्ञा जारी करके 'ताओ ते चिंग' को स्नातक स्तर के अध्ययन के लिए अनिवार्य विषय घोषित किया। सभी छात्रों के पास इसकी अपनी एक निजी प्रति होती थी; शिक्षाविदों को इसकी प्रतियां भेजी गयीं और इसका अन्य स्थानीय भाषाओं में अनुवाद हुआ। राजधानी में पत्थर पर 'ताओ ते चिंग' के शिलालेख खुदवाये गये। यह सब ईसा पूर्व के युग में होता रहा।

ऐसा नहीं था कि सबने इसको अच्छा ही माना। कनफ्यूशियस के कट्टर अनुयायी सदैव इसकी आलोचना ही करते रहे। कुछ ऐसे भी सम्राट हुए जिन्होंने इसको रद्द करने का भी प्रयास किया। ईसा पूर्व 215 में श्रेष्ठ चीनी ग्रंथों को मंगोल आक्रमणकारियों ने आग लगा दी थी। ईसवी सन् 1200 के आसपास मंगोल आक्रमणकारी कुबलई खान ने चीन पर आक्रमण कर उसे जीत लिया और वहां का शासक बन बैठा। तत्पश्चात उसने ताओ सम्प्रदाय के सभी ग्रंथों को आग लगाकर नष्ट करने का आदेश दिया किन्तु 'ताओ ते चिंग' को छोड़कर; उसका सम्मान कुबलई खान ने भी किया। इस प्रकार ढाई हजार वर्षों की ऊंच-नीच सहकर यह ग्रंथ हमारे बीच सुरक्षित बना हुआ है और यह

संपूर्ण मानवता की धरोहर है, मात्र चीन की नहीं। भारतवर्ष में जैसे वेद, वैसे चीन में 'आई चिंग' एवं 'ताओ ते चिंग'। 'आई चिंग' लाओत्जे से भी लगभग बारह सौ वर्ष पुराना ग्रंथ है। जिसके वाक्यों को लाओत्जे ने अपने ग्रंथ में उद्धृत किया है।

### 5. 'ताओ ते चिंग' की विषय-वस्तु

'ताओ ते चिंग' एक जीवन्मुक्त संत का अमृत रस है। जो साधना पथ का पथिक है, वह इसको सहजता से हृदयंगम कर सकता है, वह इसका आस्वादन कर सकता है, उसे इसमें रस मिलेगा। और जो कोई भी मात्र बुद्धि एवं विद्वता के जोर से इसे समझना चाहेगा वह अर्थ का अनर्थ कर बैठेगा। कई लोगों के द्वारा जाने-अनजाने यह दुर्घटना घटी है। पश्चिम के कुछ विद्वानों ने निष्ठापूर्वक 'ताओ ते चिंग' का अनुवाद कार्य किया है, किन्तु ऐसे अनेक स्थल हैं जहां पर वे समझ न सके कि लाओत्जे कहना क्या चाहते हैं। उदाहरणस्वरूप, जेम्स लेगी (1815-1897 ई०) का नाम लिया जा सकता है। वे ब्रिटेन के थे किन्तु लम्बे समय तक चीन में रहे और चीनी भाषा एवं संस्कृति के विशिष्ट विद्वान माने गये। उन्होंने प्रसिद्ध जर्मन विद्वान-दार्शनिक मैक्समूलर के 'सैक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट' के संपादन एवं अनुवाद में सहयोग किया। उन्होंने स्वयं बड़े श्रमपूर्वक 'ताओ ते चिंग' का अंग्रेजी अनुवाद किया किन्तु ऐसे अनेक स्थल हैं जहां साधनात्मक रहनी-गहनी की बातें हैं जिन्हें जेम्स लेगी समझ न सके और उन्होंने ईमानदारी से अपनी असमर्थता स्वीकार की है। 'ताओ ते चिंग' अत्यंत गम्भीर है। उसका लघु आकार देखकर उसे हंसी में नहीं उड़ाया जा सकता। इस छोटे से ग्रंथ के एक-एक सूत्र पर अनेकानेक शास्त्र न्योछावर हैं। 'ताओ ते चिंग' में तीन बातें प्रमुख हैं—

1. उत्तम जीवन के सूत्र।
2. विश्व सत्ता को समझने के लिए ताओ का सिद्धांत।
3. शासन एवं शासक हेतु निर्देश।

#### 1. उत्तम जीवन के सूत्र

समुद्र की तली में जैसे मोती बिखरे रहते हैं, 'ताओ ते चिंग' के समस्त अध्यायों में वैसे ही उत्तम जीवन के सूत्र मिलते हैं। ऐसा जीवन जो राग-द्वेष, कलह, शक्ति-भोग की इच्छाओं से परे हो, शिशुवत निर्दोष हो, स्त्री-सुलभ विनम्रता एवं मौन से संयुक्त हो, जल की भांति नीचे रहकर भी पर-उपकार करने वाला हो, नये पौधे की भांति कोमल, लचीला एवं निर्बल हो, अहंकार-शून्य हो—लाओत्जे की दृष्टि में उच्च जीवन है। जीवन में सदगुण ओत-प्रोत हों किन्तु उनका अहंकार न हो, ऐसा जीवन ताओ के निकट है, संयम और

शील से सुसज्जित है। लाओत्ज़े ऐसे निर्दोष जीवन को जो ताओ—विश्व-सत्ता के नियमानुसार हो, उसको 'गुप्त जीवन' (Hidden life) कहते हैं। ऐसा उच्च जीवन जीने वाले विश्व इतिहास में लोग हुए हैं, उनका जीवन एवं उनकी वाणी इसका प्रमाण है।

लाओत्ज़े ने चीन के पुराने संतों के कथनों एवं रहनी को उच्च जीवन के प्रमाण के रूप में अपने ग्रंथ में अनेक स्थलों पर उद्धृत किया है। उदाहरण स्वरूप अध्याय 15, 26, 27, 49, 56, 58, 70 आदि को यथास्थान देखा जा सकता है। संत से तात्पर्य गैरिक या सादा वस्त्र धारण करने वालों से नहीं, अपितु जिनके जीवन में निष्कामता, प्रपंच-शून्यता एवं अंतर्मुखता के लक्षण दिखायी दें। मूल चीनी भाषा में संत के लिए 'शेंग रेन' (Sheng Ren) शब्द का प्रयोग है, जिसका अर्थ सामान्यतः अनुवादक Sage/Saint करते हैं; विल्हम ने उसके लिए 'द मैन ऑफ कालिंग' (The Man of Calling) 'पुकार कर कहने वाला मनुष्य' प्रयोग किया है। कबीर साहेब ने भी अपने लिए 'कहहिं कबीर पुकारि के' कहा है।

सांसारिक ऐश्वर्य, यश, कीर्ति, बल, प्रतिष्ठा, आगे बढ़ने की चाह, उच्च पद आदि अहंकार को जन्म देते हैं, फलतः विनाश होता है। प्रकृति में यह स्पष्ट दिखता है। पौधे जब जीवन में प्रवेश करते हैं, कोमल और नाजुक होते हैं। जब वे मजबूत एवं कठोर हो जाते हैं, तब उन्हें काटकर गिरा दिया जाता है। मजबूत, अकड़वाला, कठोर होना ताओ (नियम) के विपरीत है, और ताओ के विपरीत होना विनाश को निमंत्रण देना है। लाओत्ज़े सरल, प्राकृतिक जीवन के पक्षधर हैं। प्रेम, संतोष, अगुआ न बनने की चाहना वाला जीवन ही आत्मसंतोष दे सकता है। पीछे एवं नीचे रहकर जीवन जियें ताकि कलह न हो। जिस प्रकार नदी तथा जलधाराओं की जलराशि समुद्र में मिलती है क्योंकि समुद्र नीचे होता है, उसी प्रकार शासक यद्यपि शक्तिशाली है, परन्तु जब वह अपने को दीन-हीन तुच्छ मानता है, तब वह लोगों का सिरमौर होता है।

## 2. विश्व सत्ता को समझने के लिए ताओ का सिद्धांत

लाओत्ज़े ईश्वर को लेकर भावुक नहीं हैं। किसी ईश्वर ने सृष्टि रची है, ऐसा वे नहीं कहते। ढाई हजार वर्ष पूर्व जब चीन में ही नहीं, समस्त विश्व सभ्यताओं में दैववाद-बहुदेववाद का प्रचलन था, लाओत्ज़े की वाणी ईश्वरवाद, दैववाद, चमत्कार, अलौकिकता से पूर्णतया मुक्त है। वे वैज्ञानिक अध्यात्म का सूत्रपात करते हैं। वे देखते थे कि व्यक्ति-ईश्वर की कल्पना करके लोगों द्वारा उससे भोग-मोक्ष मांगा जाता है। अतः ईश्वर पर वे मौन रहे, मौन रहकर उसकी उपेक्षा कर दी। उन्होंने कहा, एक नित्य सत्ता है जो ईश्वर से भी पहले की है और वह सत्ता करुणाशील नहीं है। उसे यज्ञ-हवन से संतुष्ट नहीं

किया जा सकता। मनुष्य उसके लिए तृण-श्वानवत तुच्छ है। इस नित्य सत्ता को वे 'ताओ' नाम देते हैं। ताओ शब्द से चीन के लोग प्राचीन काल से ही परिचित थे, पुराने सम्राटों द्वारा राज-काज चलाने के लिए जो नियम-विधान बनाये जाते थे, वे ताओ कहे जाते थे। दूसरा अर्थ था आकाश में तारों की गति करने का निर्धारित पथ। लाओत्जे ने इसे एक नये अर्थ में प्रयुक्त किया। उन्होंने इसे विश्व प्रकृति में व्याप्त भौतिक नियम तथा प्राणियों के मन-इंद्रियों को संचालित करने वाले मानसिक नियमों का समुच्चय माना। इस प्रकार जिसे विज्ञान में कारण-कार्य व्यवस्था और Eternal laws कहा जाता है, वही लाओत्जे के लिए ताओ है। ताओ में किसी व्यक्तित्व की कल्पना नहीं है। नियम में भला कैसा व्यक्तित्व? सृष्टि अनादिकाल से है, निर्मित पदार्थ सूक्ष्म प्रकृति से व्यक्त रूप में प्रकट होते हैं, पुनः चक्र में गति करते हुए सूक्ष्म प्रकृति में विलीन हो जाते हैं। यही ताओ की गति है। संसार की परिवर्तनशीलता ताओ अर्थात् नियम से संचालित है। असत्ता से सत्ता का उदय नहीं होता और सत्ता कभी असत्ता में नहीं जाती। इस प्रकार वैज्ञानिक अध्यात्म का सूत्रपात लाओत्जे ने किया। ताओ को ही भारतवर्ष के वेदों में 'ऋत' कहा गया है। 'ऋतस्य तन्तुं विततम्।' अर्थात् ऋत के तन्तु सर्वत्र फैले हैं। लाओत्जे कहते हैं ताओ के तन्तु सर्वत्र हैं। भाषा भिन्न है जबकि विचारसरणी एक समान। जिस प्रकार वेद के ऋषि प्रकृति को लेकर भावुक हो जाते हैं और उसके लिए व्यक्तिवाचक शब्दों में, उसकी महिमा में मंत्र बनाते-गाते हैं, उसी प्रकार लाओत्जे भी ताओ को लेकर अभिभूत हैं। छोटे से ग्रंथ में लगभग 75 बार ताओ शब्द आया है। ताओ उनका दार्शनिक चिंतन प्रस्तुत करता है। ताओ के नाम पर उनका मत ताओवाद कहलाता है। विश्व प्रकृति को समझने के लिए उनका प्रयास अत्यंत वैज्ञानिक एवं आधुनिक है।

### 3. शासन एवं शासक हेतु सूत्र

उस अंधे युग में कबीलों में परस्पर लड़ाई, लूटमार मची रहती थी। लाओत्जे प्रथम विचारक हैं जो युद्ध को पूर्णतः अनावश्यक मानते हैं। छोटे-बड़े राज्य दोनों अपनी सनक को पूरा करने में लगे रहते हैं। जबकि लोगों के हितों का ध्यान कोई नहीं रखता। आम जनता इन युद्धों में पिसती, उसी के बेटे-पति-भाई युद्धों में मारे जाते, फसल-सम्पत्ति की हानि होती, युद्ध के बाद भुखमरी फैलती, महामारी फैलती। इन सब कष्टों से जनता जूझती जबकि शासक वर्ग जबरदस्ती कर लेकर आम जनता से अलग हो जाता। लाओत्जे युद्ध के पूर्ण विरोधी हैं। किसी हालत में युद्ध का परिणाम दुखदायी है, विजेता हो अथवा पराजित, सबके लिए युद्ध का परिणाम पीड़ा ही है। अतः युद्ध को बचाना चाहिए। छोटा राज्य बड़े का संरक्षण स्वीकार कर ले। बड़ा राज्य अपने

को बड़ा न मानकर छोटे राज्य को सहयोग करे। अंततः दोनों राज्य जनता के लिए हैं।

लाओत्ज़े राजकाज में लम्बे समय तक रहे। अतः वे राजकाज की बारीकियों को समझते थे। उन्होंने 'ताओ ते चिंग' में सम्राट को निर्देश दिया है कि वह अत्यंत सावधानी से शासन करे, वह शासन की कला सीखे। वह अपनी भावी योजनाओं को लोगों के सामने समय से पूर्व प्रकट न करे। सम्राट आम लोगों के जीवन-यापन में हस्तक्षेप न करे। उसका शासन क्षुरधार न हो अपितु संयत हो। सम्राट आदेश देने में संयत हो। वह किसी के गलत करने पर उसे मृत्युदंड न दे। वह पुराने सम्राटों से सीख लेकर ताओ के अनुसार शासन करे। वह अपने को शक्तिशाली मानकर अहंकार न करे अपितु अपने को दीन-हीन तुच्छ समझे। अंततः एक दिन उसकी यह गति होनी ही है।

चीन में एक प्राचीन परम्परा रही है, युवराज को राजमहल छोड़कर साधारण ढंग से अध्ययन करना होता था। जिससे वह जनता के कष्टों से परिचित हो सके। जब वह परिपक्व होता तब उसे शासन की बागडोर दी जाती। इस प्रकार से प्रशिक्षित सम्राट विनम्र होता था। लाओत्ज़े ऐसा ही सम्राट चाहते हैं जो साधुशाही ढंग का हो, न कि क्षुरधार हो। ऐसे विनयी सम्राट के लिए यूनान के दार्शनिक प्लेटो ने भी कल्पना की है। उसे उन्होंने 'फिलॉसफर किंग' या 'सेज किंग' कहा है।

## 6. लाओत्ज़े का व्यक्तित्व एवं चिंतन

लाओत्ज़े अध्यात्म की विरल घटना हैं। उनका शरीर भले चीन में जन्मा हो किन्तु उनकी आत्मा का स्वर हमारी हृदय-वीणा के तारों को झंकृत करता है। उनका स्वर ऐसा है मानो उपनिषद् के कोई ऋषि बोल रहे हों, कोई कबीर बोल रहे हों। लाओत्ज़े मानव इतिहास के उन चुनिंदा लोगों में से हैं जिन्हें उंगलियों पर गिना जा सकता है। जैसे कपिल, कणाद, महावीर, बुद्ध, सुकरात, कबीर आदि। ये प्रायः एक लाइन के संत एवं चिंतक हैं। इन सभी की वाणी वैज्ञानिक अध्यात्म प्रस्तुत करती है।<sup>1</sup> ईश्वर के प्रति उदासीनता, कारण-कार्य व्यवस्था पर बल, कर्मफल भोग, पुनर्जन्म, स्व में स्थिति, अंदर हृदय में स्वर्ग का वास, ये सब चिंतन के बीज लाओत्ज़े में स्पष्ट हैं।

लाओत्ज़े का व्यक्तित्व अंतर्मुखी है; वह भीतर की ओर विकसित होता है। उनकी जड़ें भीतर की ओर फूटती हैं और गहरे जाती हैं। उन्होंने कहा है, जो जानता है वह बोलता नहीं, जो बोलता है वह जानता नहीं। उन्होंने सत्य की ओर मात्र संकेत किया है और साथ ही चेतावनी भी दे दी है कि सत्य कहा

1. इसी ग्रंथ की भूमिका से।

नहीं जा सकता और जो कहा जा सकता है वह सत्य नहीं। उनका वचन उपनिषद् के ऋषियों का स्मरण कराता है जिन्होंने 'नेति-नेति' कहकर परमतत्त्व को बखाना है। आधुनिक यूरोप में विटिंगस्टाइन नाम के समर्थ चिंतक हुए हैं, उनका एक सूत्र है—जो कहा नहीं जा सकता, उसे कहना ही मत, चुप रह जाना।<sup>1</sup> इसमें लाओत्जे की प्रतिध्वनि सुनायी पड़ती है।

लाओत्जे की वाणी ईश्वरवाद, अवतारवाद, पैगंबरवाद, दैववाद, अलौकिकता एवं चमत्कार से पूर्णतया मुक्त है। उन्होंने इनमें से किसी का खंडन नहीं किया, सिर्फ मौन रहे। उनका एक बहुमूल्य वचन है—उत्तम प्रवक्ता को खंडन की आवश्यकता नहीं। कारण-कार्य व्यवस्था, जिसे वे ताओ कहते थे उसको स्थापित किया। मानव सभ्यता के उस प्रारंभिक दौर में सभी सभ्यताओं में देववाद, बहुदेववाद का प्रचलन था। देवताओं का स्वर्ग में वास माना जाता था जो कि मानवीय गुण-चेतना से युक्त थे और प्रेम, दया, करुणा, क्षमा, क्रोध आदि करते थे। मनुष्य जब गलत करता तब वे उस पर क्रोध कर उसे दंडित करते, किन्तु यज्ञ में हवन-दक्षिणा पाकर जब पंडित और राजा, जो पृथ्वी पर उनके प्रतिनिधि थे, उसे क्षमा कर देते तो उन देवताओं का भी कोप शांत हो जाता। लाओत्जे ने इस चिंतन की नींव हिला दी। उन्होंने कहा कि एक नित्य सत्ता है जो ईश्वर के भी पहले की है, मानो वह उसकी पूर्वज हो, और वह नित्य सत्ता करुणाशील नहीं है। उसे यज्ञ-हवन द्वारा संतुष्ट नहीं किया जा सकता। इस नित्य सत्ता को लाओत्जे ताओ नाम देते हैं। ताओ विश्व-सत्ता के नियमों का समुच्चय है, जहां कोई क्षमा नहीं है और प्रत्येक कर्म कर्ता के सिर पर वापस लौटता है। ताओ का कोई व्यक्तित्व नहीं है। इस प्रकार लाओत्जे के वैज्ञानिक अध्यात्म में देवी-देवता, ईश्वर या क्षमा की गुंजाइश नहीं।

लाओत्जे अपनी वाणी में स्वर्ग का नाम अनेक बार लेते हैं। उनका स्वर्ग बाहर, ऊपर आकाश में नहीं है; वह भीतर है। मन की कलह-शून्यता ही स्वर्ग है। वे कहते हैं कि वह जीवन जिसमें कलह नहीं, यही है वह ऊंचाई जो स्वर्ग का स्पर्श करती है। कलह किसलिए होता है? अपने स्वार्थों की बढ़ोत्तरी के लिए। संत जगत से मिली हुई गाली और निंदा को निर्विकार भाव से स्वीकार लेते हैं, वे अपने को पीछे और नीचे रखते हैं। अतः उनके जीवन में कलह नहीं। लाओत्जे का स्वयं का जीवन इसका प्रमाण है।

लाओत्जे आत्मवादी थे। उन्होंने 'सेल्फ' अर्थात् 'स्व' का प्रयोग आत्मा के लिए किया। अपने अकेलेपन के बोध में स्थित रहना ही 'स्व' में स्थित होना है। उनका वचन है—जो आत्मसंतुष्ट है वह लज्जित नहीं होता..... और वह

1. Whatever cannot be said, thereof must not be said.

सदैव के लिए सुरक्षित हो जाता है। संत अपने मान-सम्मान के प्रति लापरवाह होते हैं और उनका 'स्व' बढ़ता है। वे अपने अहंकार को खो देते हैं और उनका 'स्व' सुरक्षित रहता है। चूंकि वे अपने लिए कुछ चाहते नहीं, वे स्वयं पूर्ण हैं।

विल्हम ने अपनी भूमिका में लिखा है कि लाओत्ज़े के 'सेल्फ' (स्व) को कोई अहं न समझ ले। स्व में स्थित होने के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है हृदय का विचारों से पूर्णतः खाली होना, तभी सत्य जानने में आयेगा। लाओत्ज़े सर्वत्र खाली हृदय को ज्ञान और कर्म की उपयुक्त भूमि बताते हैं। वे कहते हैं बाह्यज्ञान क्षणिक है, यह बदलता रहता है। अपने आपका ज्ञान अक्षुण्ण है, जब उसमें मिलावट न हो। अपनी स्थिति तक पहुंचने के लिए बाह्यज्ञान पर्याप्त नहीं। जब सारे दृश्य समाप्त हो जाते हैं, तभी वह सत्य जो कि छिपा हुआ है, शाश्वत व श्रेष्ठ है, सभी इंद्रिक ज्ञान से परे है, शुद्ध व स्पष्ट रूप से उजागर होता है। इसके लिए शिशुवत निर्दोषता चाहिए, उस शिशु की भांति जो अभी इच्छाओं के भंवरजाल में फंसा नहीं। तब स्थिति स्वयमेव स्पष्ट होती है, और वह शाश्वत जीवन को जानने की स्थिति में आता है और उसे जानकर मृत्यु के पार हो जाता है।

लाओत्ज़े पदार्थ-पार दृष्टि वाले हैं। वे शाश्वत जीवन को देखते हैं। संभवतः इसी कारण लाओत्ज़े के कट्टर विरोधी भी यह स्वीकार करने को बाध्य हैं कि यद्यपि संत कुएं की तली में रहते हैं और जगत को नहीं देखते अर्थात् अंतर्मुखी स्वभाव के हैं और बाहर की गतिविधि से उदास रहते हैं तथापि वे जो देखते हैं उसका खंडन नहीं हो सकता। लाओत्ज़े ने कहा है कि जो मरकर भी नहीं मरता, वह चिरजीवी है। इस पर जेम्स लेगी ने टिप्पणी की है कि मानव-शरीर कीड़े का खोल या सर्प की केंचुलि की तरह है जिसे हम बहुत थोड़े समय के लिए धारण करते हैं। निस्संदेह, लाओत्ज़े जीव के लिए वर्तमान जीवन के बाद दूसरे जीवन पर विश्वास करते हैं।<sup>1</sup>

लाओत्ज़े इतिहास के उन लोगों में से हैं, जिनका कोई साथी न हो पाया। वे अपने समय के स्वतंत्र चिंतक कहे जा सकते हैं। उन्हीं के लगभग सौ वर्ष बाद यूनान में दार्शनिक सुकरात हुए। वे भी परंपरा से अलग-थलग अपने में रमने वाले संत पुरुष थे किन्तु प्लेटो और अरस्तू जैसे समर्थ शिष्यों ने उनकी

1. The human body is like the covering of the caterpillar or the skin of the snake; that we occupy it for a passing sojourn. No doubt, Lao Tze believed in another life for the individual after the present.

वाणी को जीवित रखा। दुर्भाग्य से लाओत्जे के साथ ऐसा न हो सका। एक विचारक के अनुसार, लाओत्जे ऐसे सुकरात थे जिनको उनका प्लेटो या अरस्तू न मिल सका जो उनकी बोयी फसल को काट सके। जहां अन्य लोग अपनी उपलब्धियों को लेकर गर्व से इतराते फिरे, वहीं लाओत्जे मौन रहकर अपना कार्य करते रहे और लोगों को अपना महत्त्व दिखाने या अपनी बात समझाने के फेर में नहीं पड़े। अपने समकालीन विचारक कनफ्यूशियस की तरह उन्होंने कोई पंथ स्थापित नहीं किया न उन्होंने इसकी आवश्यकता ही समझी। विश्व प्रकृति के रहस्य को उन्होंने समझा, मानव मन की परख की और उसे अपने शब्दों में कहा। कहीं-कहीं पहेली या संकेत रूप में, जिससे कि उनके पीछे आने वाले वे थोड़े पथिक जो संसार की चमक-दमक में उलझे नहीं, और इस संसार की क्षणभंगुरता, परिवर्तनशीलता को समझने का प्रयास किये, उन्हें सहारा मिल सके और लाओत्जे इसमें सफल रहे।

लाओत्जे भावुक न थे। संसार के लोगों को वे समझा लेंगे, इस भावुकता में वे कभी नहीं पड़े। लोग उन्हें कम समझ पाये, या गलत समझे, लाओत्जे इससे तटस्थ रहे। रिचर्ड विल्हम ने उचित ही लिखा है कि कनफ्यूशियस की तरह लाओत्जे को स्वयं के न समझे जाने की समस्या से जूझना पड़ा। दोनों ही संत जिस ढंग से इस तथ्य से निपटते हैं, संभवतः वही उनकी सबसे बड़ी विशिष्टता है। लोगों द्वारा उन्हें न समझा जाना कनफ्यूशियस के लिए सर्वाधिक पीड़ाजनक था, और वे संभवतः इससे कभी उबर न सके। उनका दृढ़ विश्वास था कि उनके पास समाज की सहायता करने के लिए साधन हैं। फिर भी लोग उनका उपयोग करने के लिए तैयार नहीं हैं। जब कि लाओत्जे इस समस्या को नगण्य मानते थे। अपने स्वाभिमान और संप्रभुता में रहकर वे इसे तुच्छ मानते थे। वे इस ज्ञान में सुदृढ़ थे कि उनको न समझा जाना अथवा गलत समझा जाना इसका कारण है उनकी शिक्षाओं को न समझना। ताओ जो उनकी शिक्षाओं का और अंतर्निहित नियमों का मूल है, उसे ही नहीं समझा गया, अतः वे भी अनसमझे रह गये। उनकी वाणी में आता है—वस्तुतः इतना कम समझे जाने में ही मेरा मूल्य निहित है। लाओत्जे जैसे उच्चश्रेणी और आत्मलीन संत के लिए यह सब सहज और सरल था।

लाओत्जे अखण्ड आत्मनिष्ठ हैं। वे अपनी ओर से एकदम निश्चित हैं। अगर वे अपनी ओर से इतना निश्चित न होते तो वे इतना तीव्र व्यंग्य कैसे करते? 'ताओ ते चिंग' के अध्याय 20 को विद्वतजन लाओत्जे का आत्मकथात्मक मानते हैं। जिसमें लाओत्जे संसार के लोगों पर, उनकी चमक-दमक, उनके भोग-विलास, सुख-साधनों की प्रचुरता आदि पर तीखा व्यंग्य करते हैं। दूसरी ओर अपने लिए उन्होंने नवजात शिशु की भांति जिसके अभी



मुस्कान भी नहीं उभरी, मूढ़, अव्यवस्थित, अत्यंत उदास, गंदला, लहरों की तरह भटकता हुआ आश्रयहीन, अशांत, व्यर्थ, भिखारी आदि विशेषणों का प्रयोग किया है। फिर भी उन्होंने अपने जीवन को श्रेष्ठतर और उत्तम माना है, क्योंकि वे ताओ (नियम) के निकट स्थित हैं। कबीर साहेब ने भी अपने पर व्यंग्य किया है—कहहिं कबीर सब खलक सयाना, इनमें हमहिं अनारी। दुनिया के लोग बहुत सयाने हैं, ज्ञानी हैं; इनमें हम ही एक अनाड़ी हैं।

### 7. लाओत्ज़े और कबीर

लाओत्ज़े को पढ़ते हुए कबीर पदे-पदे याद आते हैं। एक विचारक ने तो लिखा है कि लाओत्ज़े को कबीर ने समझा। लाओत्ज़े की झांकी कबीर में देखने को मिलती है, जीवन में भी और विचारों में भी।

लाओत्ज़े और कबीर दोनों परम संत हैं। दोनों स्वतंत्र चिंतक हैं। उनके बीच दो हजार वर्षों का अंतर है। यदि देश-काल के इस अंतर को नजरअंदाज कर दिया जाये तो दोनों के विचार एवं व्यक्तित्व घुलकर एक हो जाते हैं। लाओत्ज़े ने अपने विचारों को सूत्र रूप में या बीज मंत्रों की तरह 'ताओ ते चिंग' में व्यक्त किया है; कबीर की वाणी का नाम ही 'बीजक' है। जिसका भाव है बीज रूप में निहित ज्ञान। दोनों ही आत्मतृप्ति के सर्वोच्च शिखर पर विराजमान हैं। समाज के लोगों को चेताने के लिए करुणावश दोनों ने श्रम किया किन्तु भावुक होकर नहीं। कबीर कहते हैं—मैंने सबके कल्याण के लिए समान सत्पथ बता दिया है, परन्तु मुझे कोई समझ न पाया। तो भी, मैं पहले संतुष्ट था, आज संतुष्ट हूँ तथा आगे भी संतुष्ट रहूँगा। मेरी अपनी संतुष्टि में कोई कमी नहीं है।<sup>1</sup> लाओत्ज़े की वाणी में आत्मतृप्ति का भाव छलकता है। संत-इतिहास में एक अद्भुत संयोग की घटना! जीवन के अंतिम वर्षों में दोनों ही महापुरुष अपने-अपने नगर को छोड़कर अंजान-सी जगहों को अपने देहावसान के लिए चुने। लाओत्ज़े का 'चारु' राज्य छोड़कर निर्जन प्रदेश में जाना, कबीर का काशी छोड़कर मगहर जाने की घटना का स्मरण कराता है। जिस प्रकार परम्परागत सोच से हटकर अपने प्रखर चिंतन, तार्किक विचारधारा के लिए कबीर भारतीय मध्ययुग में विशिष्ट हैं, उसी प्रकार प्राचीन चीन में लाओत्ज़े अपने खरे ज्ञान एवं वैज्ञानिक सोच के नाते विशिष्ट हैं।

### 8. लाओत्ज़े का प्रभाव

लाओत्ज़े की चमक ढाई हजार वर्ष बाद भी क्षीण नहीं हुई। उनके

1. हम तो सबकी कही, मोको कोई न जान।

तब भी अच्छा अब भी अच्छा, जुग-जुग होउँ न आन ॥ बीजक, साखी, 183 ॥

जीवनकाल में ही उनकी अंतर्मुख रहनी का लोगों पर व्यापक प्रभाव पड़ा था। यहां तक कि कनफ्यूशियस के अनुयायी जो अपने युवा दिनों में समाज को बदलने के लिए कमर कसे हुए थे और जीवनभर लाओत्जे को कूप-मंडूक कहकर व्यंग्य करते रहे, वे अपने तमाम प्रयासों के बाद भी जब समाज में अपेक्षित सुधार न कर पाये और उनको अपना जीवन भी व्यर्थ जाता हुआ दिखा, तब वे लाओत्जे के बताये अनुसार समुद्र के किनारे या पर्वत की गुफाओं में एकांत ढूँढ़कर आत्मशोधन के लिए उन्मुख हुए और उनकी रहनी का अनुसरण किये। वर्तमान में लाओत्जे का आकर्षण और गहरा रहा है। उनकी अंतर्मुखता में रहस्य समाया हुआ है, जो यूरोपीय और पाश्चात्य लोगों को उनकी ओर आकर्षित कर रहा है। भौतिक समृद्धि व वैज्ञानिक उपलब्धियां उनके मन के खालीपन को भरने में असफल रही हैं। अतः लाओत्जे की वाणियों पर मनन-चिंतन बढ़ा है। ताओ नाम लोगों को आकर्षित कर रहा है। लेखक ताओ नाम का प्रयोग कर रहे हैं। अभी कुछ वर्ष पूर्व ही 'द ताओ आफ फिजिक्स' तथा 'द ताओ आफ फू' ग्रंथ प्रकाशित हुए। पर्यावरण अध्ययन के क्षेत्र में भी ताओ को जोड़कर देखा जा रहा है। ताओ विश्व परिदृश्य में चीन की पहचान बनकर उभर रहा है।

### 9. लाओत्जे का दुरुपयोग

लाओत्जे को ताओवाद का जनक माना जाता है, किन्तु उनके पूर्व भी चीन में ताओवाद एक पंथ के रूप में था। लाओत्जे का शरीर छूटने के सौ वर्ष के भीतर ही उन्हें अवतार मानकर देवता के रूप में उनकी पूजा प्रारम्भ हो गयी। वर्तमान ताओवाद का आधार उनकी रचना 'ताओ ते चिंग' नहीं है। लाओत्जे का स्वर जो 'ताओ ते चिंग' में व्यक्त होता है उसमें भीड़ जुटाने की क्षमता नहीं है। वह विशुद्ध ज्ञान है। अतः उनके वर्तमान अनुयायी अन्य वाणियों को अपने मत का आधार मानते हैं, और आवश्यकता पड़ने पर 'ताओ ते चिंग' की भी मनमानी व्याख्या कर अपना स्वार्थ साधते हैं। लाओत्जे के ग्रंथ 'ताओ ते चिंग' में भूत-प्रेत की मान्यता बची रह गयी है, जिसका दुरुपयोग उनके अनुयायियों ने किया है। उन्होंने लाओत्जे के विशुद्ध ज्ञान को छोड़कर चीन की लोक मान्यताओं को अपने में समाहित कर लिया है और जादू-टोना, मंत्र-तंत्र, ज्योतिष, यज्ञ-हवन, बलि, भूत-प्रेत, झाड़ू-फूंक आदि कर्मकांड आज के ताओवाद की प्रमुख पहचान बन गये हैं। अपने जादू-मंत्र का प्रभाव डालने के लिए अनेक बार इस पंथ के लोगों ने प्रशासन को ही उखाड़ फेंकने का षडयंत्र रचा, अतः पकड़े गये, दंडित हुए; और यह सब लाओत्जे के नाम पर हुआ है। लाओत्जे का वास्तविक स्वरूप ढक ही गया था, उन्हें एक मिथक-पौराणिक व्यक्तित्व मान लिया गया था। भला हो यूरोपवासियों का जिन्होंने उनके वास्तविक

चिंतन को खोज निकाला। ताओवाद के अनुयायियों की वर्तमान संख्या करोड़ों में है, और वे चीन सहित पूर्वी एशिया के अनेक राष्ट्रों जापान, कोरिया, सिंगापुर, ताइवान आदि में फैले हैं। आधुनिक विद्वान लाओत्जे की प्रशंसा एक स्वर से करते हैं किन्तु वे वर्तमान ताओवाद को लाओत्जे से नहीं जोड़ते।

यह दुर्घटना लाओत्जे के साथ ही हुई हो, ऐसा नहीं है। यह सर्वत्र देखने में आता है कि प्रवर्तक की अनुपस्थिति में अनुयायियों की प्रवंचना उभर आती है। भौतिक स्वार्थों में फंसकर वे अपने प्रवर्तकों के वचनों की अवमानना करते हैं और विपरीत साधनों का प्रयोग करने में भी नहीं हिचकते। हमारे देश में श्रीकृष्ण एवं कबीर साहेब प्रमाण हैं इस बात के।

भारतवर्ष के पुराकाल में श्रीकृष्ण एक स्वतंत्र चिंतक एवं क्रांतिकारी पुरुष हुए। ऋग्वेद में उन्हें इंद्र का विरोधी, वन्यजातियों का नायक, घोर गर्जना करने वाला, तीव्रगामी, सूर्य के समान तेजवान बताया गया है। छांदोग्य उपनिषद् में उत्तम आध्यात्मिक जिज्ञासु के रूप में उनकी चर्चा है। महाभारत में वे एक महान राजनेता के रूप में उभरते हैं। उनका तेज देखकर आगे चलकर उन्हें नारायण का अवतार ही घोषित कर दिया गया। फिर उनकी महिमा में जो शास्त्र लिखे गये उनमें उनका रूप ही विकृत कर दिया गया। हरिवंश पुराण, भागवत पुराण आदि में उन्हें सैकड़ों-हजारों स्त्रियों के साथ रास करने वाला रसिया बना दिया गया। माधुर्य-भक्ति के रसिक भक्त-कवियों ने उनका जो श्रृंगारिक चित्रण किया है, उसने श्रीकृष्ण के क्रान्तिकारी तथा आध्यात्मिक रूप पर धूल डाल दी है। अब भारतवर्ष में श्रीकृष्ण के मूलरूप की चर्चा कोई नहीं करता, वे हिन्दुओं के दस अवतारों में एक अवतार बनकर रह गये हैं। यह उनके अनुयायियों की लीला है।

एक दूसरा उदाहरण। कबीर साहेब को हुए अभी मात्र छह सौ वर्ष बीते हैं, और उनकी महिमा बताने के लिए अनेक पोथियां रची गयीं, उन्हें चारों युगों में अवतार लेने वाला बताया गया, उन्हें भवफंद काटने वाला बताकर पूजा जा रहा है और यह सब करने वाले कबीर के अनुयायी कहलाते हैं।

भारतवर्ष हो, चीन हो या अन्य कोई राष्ट्र; लाओत्जे हों, कृष्ण हों या कबीर, सभी जगह अनुयायियों की मूल समस्या एक ही है—भौतिक ऐश्वर्य का प्रबल आकर्षण। डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि लोग केवल सत्य को पाने के लिए देर तक टिके नहीं रह सकते। उन्हें धन चाहिए, मान चाहिए, यश चाहिए, कीर्ति चाहिए। यह प्रलोभन 'सत्य' कही जाने वाली बड़ी वस्तु से अधिक बलवान साबित हुआ है.....इसे द्विवेदी जी ने 'घर जोड़ने की माया' कहा है। यही काम श्री राम, महावीर, बुद्ध आदि सभी महापुरुषों के साथ उनके अनुगामियों ने किया है।

### 10. 'ताओ ते चिंग' के अन्य अनुवाद और भाष्य

'ताओ ते चिंग' पर अन्य चीनी साहित्य की अपेक्षा अधिक ध्यान दिया गया है। इस पर चीन के बाहर भी लिखा गया है, चीन में तो लिखा ही गया है। ईसा पूर्व ही इस पर अनेक भाष्य हुए हैं। कुछ तो सम्राटों द्वारा किये गये हैं। एक ही राजवंश के तीन सम्राटों ने इस पर भाष्य लिखे थे। यहां दो प्रमुख पुराने भाष्यकारों की चर्चा की जा रही है, जिनके भाष्य अभी भी अनूदित होकर प्रकाशित हो रहे हैं।

प्रथम है, 'हो-शांग-कुंग' का भाष्य। यह सर्वाधिक पुराना उपलब्ध भाष्य है। 'हो-शांग-कुंग' ईसा से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व हुए। वे ताओ मत के अनुयायी थे, एवं 'ताओ ते चिंग' के अध्येता माने गये। उनका भाष्य यूरोपीय भाषाओं में अनूदित होकर आज भी प्रकाशित हो रहा है। अनेक स्थलों पर यह लाओत्जे की वाणी को स्पष्ट करता है किन्तु अनेक स्थलों पर यह उलझाव भी पैदा करता है। यह थोड़ा चमत्कारिक मान्यता वाला है। पुराना होने से इसका विद्वानों में मान है।

दूसरा भाष्य है, 'वैंग बी' (226-249 ई०) नामक 24 वर्षीय नवयुवक का जिसका 249 ई० में एक बीमारी से असमय ही शरीर छूट गया। वह बड़ा योग्य था। वस्तुतः वह कनफ्यूशियस के मत का अनुयायी था। किन्तु 'ताओ ते चिंग' ने उसे प्रभावित किया, अतः वह उसके अध्ययन में लगा और उसने उस पर भाष्य भी लिखा। विद्वानों के बीच 'वैंग बी' के भाष्य का विशेष महत्त्व है। यह भाष्य ज्यादा स्पष्ट, प्रामाणिक और बुद्धिगम्य है।

अन्य भाष्यों के साथ, इन दोनों भाष्यों का आधार लेकर ही यूरोपीय लेखकों ने 'ताओ ते चिंग' का अनुवाद किया है। 19वीं शताब्दी में यूरोप से चीन पहुंचे ईसाई मिशनरियों, जैसे जूलियन, स्ट्रास, जेम्स लेगी और रिचर्ड विल्हम का अनुवाद कार्य प्रामाणिक माना जाता है। इधर कुछ वर्षों से अमरीका के विद्वानों ने भी 'ताओ ते चिंग' पर ध्यान दिया है। जेम्स लेगी के बारे में पीछे बताया जा चुका है। रिचर्ड विल्हम (1873-1930 ई०), जिनके पाठ के आधार पर यह भाष्य लिखा गया है, वे जर्मनी के थे एवं चीन में 20 वर्ष रहे। उन्होंने चीनी भाषा के अनेक ग्रंथों का अनुवाद किया है तथा वे चीनी भाषा-साहित्य के समर्थ विद्वान माने गये। 'ताओ ते चिंग' एवं 'आई-चिंग' के अनुवाद उनके श्रेष्ठ अनुवाद हैं।

### 11. वर्तमान परिदृश्य और यह भाष्य

हिन्दी में 'ताओ ते चिंग' के अनुवाद या भाष्य दिखते नहीं। संभवतः हिन्दी लेखकों का ध्यान इधर गया ही नहीं। पुराने चीनी भाष्य जिनके विषय में ऊपर

बताया गया है, वे स्पष्ट नहीं हैं, कारण चाहे जो भी हो। पिछली सदी में जो काम यूरोप के लेखकों ने किया है वह बुद्धिगम्य एवं स्पष्ट दिखता है, फिर भी अनेक ऐसे स्थल हैं जिनका भेद वे खोल नहीं पाते।

लाओत्जे कहना क्या चाहते हैं? इस पर विचार किये बिना ही कई बार विद्वान उनके शब्दों में ही उलझ जाते हैं। वे अपनी विद्वता एवं जानकारी में पड़कर साधनात्मक बातों के विषय में संदेह पैदा कर देते हैं। उदाहरण स्वरूप 'ताओ ते चिंग' का अध्याय 50, जिसका भाव है कि ताओ के अनुसार जीने वाला व्यक्ति भले ही सेना के मध्य से गुजर जाय किन्तु उनके अस्त्र-शस्त्र से वह अप्रभावित रहेगा; सघन वन से निकल जाय किन्तु हिंसक जीवों के वार से आहत नहीं होगा। जेम्स लेगी ने इस पर टिप्पणी की है कि लाओत्जे का कथन स्पष्ट नहीं है। ऐसा लगता है मानो लाओत्जे काव्यात्मक-कल्पना कर रहे हों कि ताओवादी कभी खतरे में नहीं पड़ सकता। लेगी साहब संत-वाणी का मर्म नहीं समझ पा रहे हैं। वस्तुतः मृत्यु का भय तो उसको होता है, जिसे शरीर से राग है। संत का अहंकार-ममकार पहले ही मर गया है, अब उसे मरने का क्या भय! वह तो निर्भय आत्मस्थिति के साम्राज्य में जी रहा है। सेना के बीच से गुजरना, वन्य जीवों के बीच से निकलना—ये सब लाक्षणिक कथन हैं, किन्तु लेगी साहब इन्हीं में उलझ गये।

रिचर्ड विल्हम की टिप्पणियां ज्यादा प्रौढ़ हैं। किन्तु संतवाणी को समझने की उनकी भी एक सीमा है क्योंकि यह विषय वाणी का नहीं, रहनी का है। संत की वाणी को कोई संत ही प्रामाणिक ढंग से व्याख्यायित कर सकते हैं, क्योंकि वे एक ही पथ के पथिक हैं, ऐसा हमारा निर्दोष विश्वास है।

भारतवर्ष में लाओत्जे पर विशेष लिखा नहीं गया है। संभवतः यहां पर संतों की इतनी समृद्ध परंपरा रही है कि लोगों को सीमा पार देखने का अवकाश ही नहीं मिला। भारत भूमि सदैव ही ऋषि-मुनि एवं संतों की वाणी से गुंजायमान रही है। तथागत बुद्ध का बौद्ध धर्म भारत से ही चीन पहुंचा है। इस प्रकार भारत चीन के लिए बहुत पहले से ही धर्मगुरु रहा है। अतीत में इन दोनों राष्ट्रों के रिश्ते मधुर रहे हैं। पुराने इतिहास में कभी ऐसा अवसर नहीं आया कि किसी चीनी सम्राट ने यहां हमला किया हो, किन्तु वर्तमान चीन की स्थिति अलग है। भारतवर्ष में धर्म-अध्यात्म अभी भी फल-फूल रहा है, जबकि चीन में सरकार ने धार्मिक गतिविधियों को अपने नियंत्रण में ले लिया है। वर्तमान चीन कम्युनिस्ट राष्ट्र है। सन् 1950 से चीन में कम्युनिस्ट पार्टी का शासन है। इस प्रकार कम्युनिस्ट पार्टी ही वर्तमान चीन की अधिष्ठात्री देवी है। उसके सामने बुद्ध, लाओत्जे, कन्फ्यूशियस, दलाई लामा आदि धर्मगुरु सब बौने हो गये हैं। और सारे धर्म अफीम की तरह नशा पैदा करने वाले मान

लिये गये हैं। अब वहां के धर्मगुरु सरकार के अनुसार सोचते-बोलते हैं, अपने प्रवर्तकों के सिद्धांतों के अनुसार नहीं। चीन की सरकार की नीति भी हिंसक और आक्रामक है, पहले की तरह अहिंसक नहीं। सम्पूर्ण विश्व मौन साधे देख रहा है कि चीन अपने लोगों, अपनी सांस्कृतिक-धार्मिक परम्परा एवं लोकतांत्रिक मूल्यों के साथ कैसा व्यवहार कर रहा है।

वर्तमान विश्व परिदृश्य में तीन महापुरुषों के प्रति लोगों का आकर्षण निरंतर बढ़ रहा है—ईरान के संत मौलाना जलालुद्दीन रूमी, भारतवर्ष के संत कबीर एवं चीन के संत लाओत्जे। रूमी साहब का ग्रंथ 'मसनवी', कबीर साहब का ग्रंथ 'बीजक' एवं संत लाओत्जे का ग्रंथ 'ताओ ते चिंग' उनकी वाणियों का सार है। हिन्दी में लाओत्जे पर यह भाष्य लोगों के बीच प्रस्तुत करते हुए मन में हर्ष हो रहा है। इस ग्रंथ के भाष्यकार पूज्यवर गुरुदेव संत श्री अभिलाष साहेब जी की लेखनी से अब तक अनेक ग्रंथ रत्न निकले हैं। वे अनेक बार कहते हैं, "पहले मैं केवल शिव, विष्णु, राम और कृष्ण का उपासक था। अब कबीर को पाकर ऐसी दृष्टि मिली है कि संसार के सभी महापुरुष बुद्ध, महावीर, लाओत्जे, कन्फ्यूशियस, सुकरात, ईसा, मोहम्मद, नानक आदि मेरे हो गये।" ऐसी प्रेममयी दृष्टि रखने वाले संतप्रवर ने कबीरवाणी, वेदवाणी, बुद्धवाणी, पातंजल योगसूत्र, गीता, उपनिषद्, शांकर-विवेक चूडामणि आदि पर अपने भाष्य लिखे हैं। जिन्हें जनता से अपूर्व प्रेम मिला है। इसी क्रम में चीनी संत लाओत्जे के ग्रंथ 'ताओ ते चिंग' पर उनका भाष्य प्रस्तुत है। संतवाणी देश-काल की भौतिक दूरी का भेद नहीं मानती। संत की रहनी की सुगन्धि हवा की विपरीत दिशा में भी जाती है, ऐसा तथागत बुद्ध ने कहा है। पुराने संतों का मेल-मिलाप, सौहार्द्र का भाव हमारे मन में पुनः जागृत हो, ऐसी शुभ कामना है।